पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला - १४९

सागर-जैनविद्या-भारती

भाग - ६

प्रो० सागरमल जैन

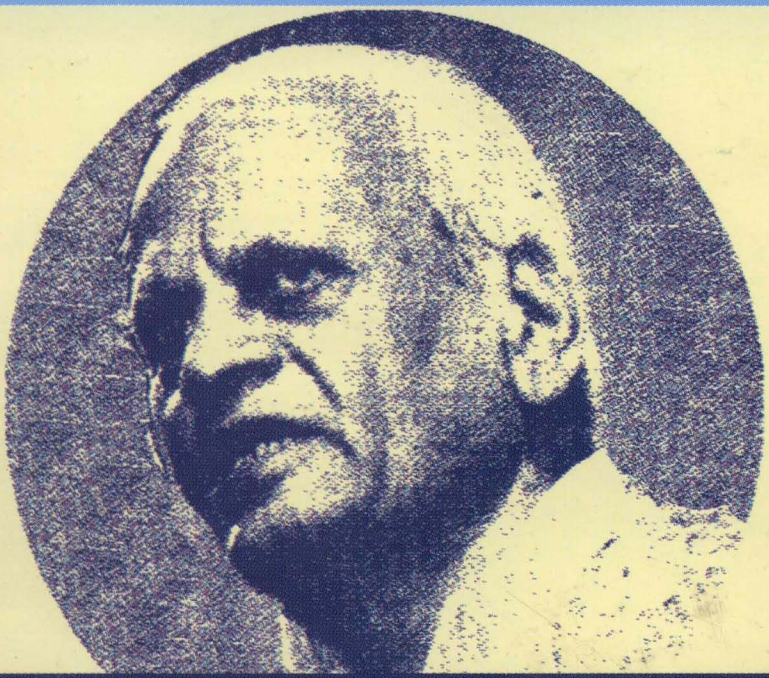

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला - १४९

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

सागर-जैनविद्या-भारती

भाग - ६

(प्रो० सागरमल जैन के शोध लेखों का संकलन)

प्रो० सागरमल जैन

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रंथमाला क्रमांक १४९

पुस्तक : सागर-जैनविद्या-भारती - भाग ६

प्रकाशक : पार्श्वनाथ विद्यापीठ
आई॰टी॰आई॰ रोड, करौंदी,
वाराणसी - ५

दूरभाष : (०५४२) २५७५५२१, २५७५८९०

प्रथम संस्करण : २००६

ISBN : 81-86-715-84-3

© : पार्श्वनाथ विद्यापीठ

मूल्य : रु॰ १००

अक्षर सज्जा : एड विज़न, करौंदी, वाराणसी - २२१००५

मुद्रक : वर्धमान मुद्रणालय, भेलूपुर, वाराणसी - २२१०१०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समर्पण

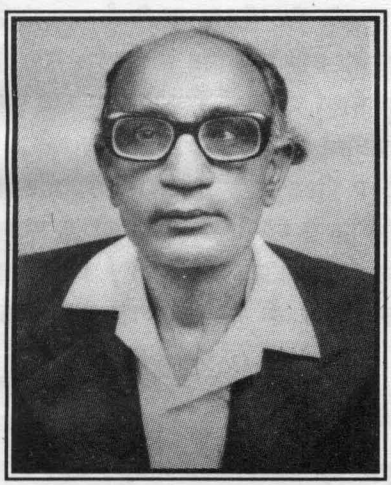

प्राकृत विद्या के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् स्व॰ प्रो॰ के॰ आर॰ चन्द्र

को

सादर समर्पित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकाशकीय

श्रमण संस्कृति के सारस्वत साधक प्रोफेसर सागरमल जैन की साहित्य-साधना सर्वविदित है। आपने विपुल जैन-साहित्य का सृजन किया है तथा शोध के नये आयाम उद्घाटित किये हैं। आप द्वारा लिखित सभी शोध-निबन्धों को एक स्थान पर देना सम्भव नहीं था इसलिए पार्श्वनाथ विद्यापीठ की प्रबन्ध-समिति ने आपके शोध-निबन्धों को 'सागर-जैनविद्या-भारती' की श्रृंखला के रूप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया है। इस श्रृंखला में अब तक पाँच पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं। सागर-जैनविद्या-भारती का षष्ठ पुष्प पाठकों के समक्ष रखते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। इस अंक में प्रो० जैन द्वारा जैन धर्मदर्शन के विविध आयामों यथा- जैन दर्शन, साहित्य, आचार, इतिहास, संस्कृति, कला आदि पर लिखे गये महत्त्वपूर्ण निबन्धों को स्थान दिया गया है, जिन्हें पढ़कर जैनविद्या का कोई भी अध्येता उनके ज्ञान-गाम्भीर्य, उनकी समालोचक दृष्टि तथा लेखनकला की उत्कृष्ट शैली से सहज ही परिचित हो जाता है। उनके शोध-निबन्धों के संकलनरूप इस पुस्तक को प्रकाशित करते हुए हम गर्व का अनुभव कर रहे हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशन में संस्थान के सह-निदेशक डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय एवं प्रकाशन अधिकारी डॉ० विजय कुमार का अपेक्षित एवं अपूर्व सहयोग मिला है, एतदर्थ हम इन अधिकारीद्वय के अत्यन्त आभारी हैं।

आशा है यह पुस्तक जैनविद्या के अध्येताओं एवं शोधार्थियों के लिए उपादेय सिद्ध होगी।

अन्त में अक्षर सज्जा हेतु 'एड विजन' एवं सुन्दर तथा सत्वर मुद्रण के लिए 'वर्धमान मुद्रणालय', वाराणसी के प्रति अपना आभार व्यक्त करते हैं।

इन्द्रभूति बरड़
संयुक्तत सचिव
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका

हिन्दी खण्ड

१.	भारतीय संस्कृति के दो प्रमुख घटकों का सहसम्बन्ध (वैदिक एवं श्रमण)	१-१७
२.	महावीर का श्रावक वर्ग तब और अब : एक आत्मविश्लेषण	१८-२४
३.	भगवान महावीर का जन्म स्थल: एक पुनर्विचार	२५-३६
४.	भगवान महावीर का केवलज्ञान स्थल: एक पुनर्विचार	३७-४०
५.	भगवान महावीर की निर्वाणभूमि पावा - एक पुनर्विचार	४१-४७
६.	जैन तत्त्वमीमांसा की विकासयात्रा : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में	४८-५७
७.	जैन दर्शन में मोक्ष की अवधारणा	५८-६१
८.	जिनप्रतिमा का प्राचीन स्वरूप : एक समीक्षात्मक चिन्तन	६२-६८
९.	'अंगविज्जा' में जैन मंत्रों का प्राचीनतम स्वरूप	६९-७५
१०.	उमास्वाति एवं उनकी उच्चैर्नागर शाखा का उत्पत्तिस्थल एवं विचरणक्षेत्र	७६-८१
११.	उमास्वाति का काल	८२-८६
१२.	उमास्वाति और उनकी परम्परा	८७-९२
१३.	जैन आगम साहित्य में श्रावस्ती	९३-९६
१४.	प्राकृत एवं अपभ्रंश जैन साहित्य में कृष्ण	९७-११०
१५.	मूलाचार : एक अध्ययन	१११-१२३
१६.	प्राचीन जैनागमों में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा	१२४-१३१
१७.	ऋषिभाषित में प्रस्तुत चार्वाक दर्शन	१३२-१३६
१८.	राजप्रश्नीय सूत्र में चार्वाक मत का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा	१३७-१४१
१९.	भागवत के रचना काल के सन्दर्भ में जैन साहित्य के कुछ प्रमाण	१४२-१४५
२०.	बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना	१४६-१५५
२१.	धर्म निरपेक्षता और बौद्धधर्म	१५६-१६३
२२.	महायान सम्प्रदाय की समन्वयात्मक जीवनदृष्टि	१६४-१७४

ENGLISH SECTION

23. Human Solidarity and Jainism : The Challenge of our times 176-185

24. The Impact of Nyāya and Vaiśeṣika School on Jaina Philosophy 186-192

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय संस्कृति के दो प्रमुख घटकों का सहसम्बन्ध (वैदिक एवं श्रमण)

भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ

भारतीय संस्कृति एक समन्वित संस्कृति है। उसकी संरचना में आर्य और द्रविड़ तथा उनसे विकसित वैदिक और श्रमण धाराओं का महत्त्वपूर्ण अवदान है। जहां वैदिक धारा मूलत: प्रवृत्ति प्रधान रही है, वहीं श्रमण धारा निवृत्ति प्रधान रही है। चाहे प्रारम्भ में वैदिक धारा और श्रमण धारा स्वतन्त्र रूप में अस्तित्व में आयी हो, किन्तु कालान्तर में इन दोनों धाराओं ने परस्पर एक दूसरे से बहुत कुछ ग्रहण किया है। वर्तमान युग में जहां वैदिक धारा का प्रतिनिधित्व हिन्दू धर्म-दर्शन करता है, वहीं श्रमणधारा का प्रतिनिधित्व जैन और बौद्ध धर्म करते हैं। किन्तु यह समझना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि वर्तमान हिन्दू धर्म अपने शुद्ध स्वरूप में मात्र वैदिक धारा का प्रतिनिधि है। वर्तमान हिन्दू धर्म में श्रमणधारा के अनके तत्त्व समाविष्ट हो गये हैं। आज यह कहना कठिन है कि श्रमण धारा के प्रतिनिधि जैन और बौद्ध धर्म वैदिक धारा और उससे विकसित हिन्दू धर्म से पूर्णत: अप्रभावित रहे हैं। यदि हम भारतीय संस्कृति के सम्यक् इतिहास को समझना चाहते हैं तो हमें इस तथ्य को दृष्टिगत रखना होगा कि कालक्रम में उसकी विभिन्न धाराएं एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करती रही हैं। कोई भी संस्कृति और सभ्यता शून्य में विकसित नहीं होती हैं। देशकालगत परिस्थितियों के प्रभाव के साथ-साथ वह सहवर्ती अन्य संस्कृतियों से भी प्रभावित होती है। यह सत्य है कि प्राचीन वैदिक धर्म यज्ञ-याग और कर्मकाण्ड प्रधान रहा है और उसके प्रतिनिधि वर्तमान हिन्दू धर्म में आज भी इन तत्त्वों की प्रधानता देखी जाती है किन्तु वर्तमान हिन्दू धर्म में संन्यास और मोक्ष की अवधारणा का भी अभाव नहीं है। कालक्रम में वैदिक धर्म ने अध्यात्म, संन्यास, वैराग्य एवं तप-त्याग के तत्त्वों को श्रमण परम्परा से लेकर आत्मसात किया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक वैदिक काल में ये तत्त्व उसमें पूर्णत: अनुपस्थित थे। प्राचीन स्तर की वैदिक ऋचाएं इस सम्बन्ध में पूर्णत: मौन हैं, किन्तु आरण्यकों और उपनिषदों के काल में ही श्रमण परम्परा के, इन तत्त्वों को वैदिक परम्परा में मान्यता प्राप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो चुकी थी। ईशावास्योपनिषद्, जो अथर्ववेद का अन्तिम परिशिष्ट भी है, में सर्वप्रथम वैदिकधारा और श्रमणधारा के समन्वय का प्रयास किया गया है। औपनिषदिक चिन्तन निश्चित रूप से तप-त्याग मूलक अध्यात्म और वैराग्य को अपने में स्थान देता है। उपनिषद् तप-त्याग मूलक आध्यात्मिक संस्कृति पर बल देते हुए प्रतीत होते हैं। मात्र यही नहीं वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति प्रश्नचिह्न उपस्थित करने वाले भी वे ही प्रथम ग्रन्थ हैं। वैदिक और श्रमण संस्कृति के समन्वय का जो प्रयत्न आरण्यकों एवं उपनिषदों ने किया था, वही गीता और महाभारत में पुष्पित एवं पल्लवित होता रहा है। उपनिषद्, गीता और महाभारत वैदिक तथा श्रमणधारा के सांस्कृतिक समन्वय-स्थल हैं। उनमें प्राचीन वैदिक धर्म एक नया आध्यात्मिक स्वरूप लेता हुआ प्रतीत होता है, जिसे आज हम हिन्दू धर्म के रूप में जानते हैं।

साथ ही यह भी सत्य है कि निवृत्ति प्रधान श्रमणधारा भी वैदिक धारा से पूर्णत: असम्पृक्त नहीं रही है। श्रमणधारा ने भी चाहे-अनचाहे रूप में वैदिक धारा से बहुत कुछ ग्रहण किया है। यह सत्य है कि प्रारम्भ में श्रमण धारा के अध्यात्म ने वैदिक धारा को प्रभावित किया किन्तु कालान्तर में उसे भी वैदिक धारा के अनेक तत्त्वों को आत्मसात करना पड़ा। श्रमणधारा में जो कर्मकाण्ड और पूजा पद्धति का विकास हुआ है वह वैदिक धारा से विकसित हिन्दू परम्परा का प्रभाव ही है। अनेक हिन्दू देवी-देवता और उनकी पूजा-उपासना की पद्धति श्रमण परम्परा में आत्मसात कर ली गई। किस परम्परा ने किससे, कितना, कब और किन परिस्थितियों में ग्रहण किया है इसकी चर्चा आगे करेंगे। किन्तु यहां यह समझ लेना आवश्यक हैं कि इन दोनों धाराओं का स्वतन्त्र विकास किन मनोवैज्ञानिक पारिस्थितिक कारणों से हुआ और वे क्यों और कैसे एक-दूसरे के तत्त्वों को ग्रहण करने के लिये विवश हुईं अथवा इन दोनों धाराओं में पारस्परिक समन्वय की आवश्यकता क्यों हुई?

वैदिक और श्रमण धारा के उद्भव के मूल में किसी न किसी रूप में मानव अस्तित्व का वैविध्यतापूर्ण होना है। मानव अस्तित्व द्विआयामी और विरोधाभासपूर्ण है। वह स्वभावत: परस्पर दो विरोधी केन्द्रों के मध्य सन्तुलन बनाने का प्रयत्न करता रहता है। मनुष्य न केवल शरीर है और न केवल चेतना। शरीर के स्तर पर वह जैविक वासनाओं और इच्छाओं से प्रभावित है तो चेतना के स्तर पर वह विवेक से अनुशासित भी है। वासना और विवेक का यह अन्तर्द्वन्द्व मनुष्य की नियति है और इन दोनों के मध्य सांग सन्तुलन स्थापित करना उसकी अनिवार्यता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। शारीरिक स्तर पर वह जैविक वासनाओं से चालित है और इस स्तर पर उस पर जैविक यांत्रिक नियमों का आधिपत्य है। यही उसकी परतन्त्रता भी है। किन्तु चैतसिक स्तर पर वह विवेक से शासित है। यहां उसमें संकल्प स्वातंत्र्य है। शारीरिक स्तर पर वह बद्ध है, परतन्त्र है किन्तु चैतसिक स्तर पर वह स्वतन्त्र है, मुक्त है। दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति और आध्यात्मिक तोष वह इन दोनों में से किसी भी एक की उपेक्षा करने में समर्थ नहीं है। एक ओर उसका वासनात्मक अहं उसके सम्मुख अपनी मांगें प्रस्तुत करता है तो दूसरी ओर उसे विवेक चालित अपनी अन्तरात्मा की बात भी सुननी होती है। उसके लिये इन दोनों में से किसी की भी पूर्ण उपेक्षा करना सम्भव नहीं है। मनुष्य के जीवन की सफलता इसी में है कि वह अपने वर्तमान अस्तित्व में इन दोनों छोरों में एक सांग-संतुलन बना सके। मानवीय संस्कृति में श्रमण और वैदिक धाराओं के उद्‌भव के मूल में वस्तुत: मानव अस्तित्व का यह द्विआयामी या विरोधाभासपूर्ण स्वरूप ही है। मनुष्य को दैहिक स्तर पर वासनात्मक तथा चैतसिक स्तर पर आध्यात्मिक जीवन जीना होता है। वैदिक एवं प्रवर्तक धर्मों के मूल में मनुष्य का वासनात्मक जैविक पक्ष ही प्रधान रहा है। जबकि श्रमण या निवर्तक धर्मों के मूल में विवेक बुद्धि प्रमुख रही है। आगे हम यह विचार करेंगे कि इन प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों की विकास यात्रा का मनोवैज्ञानिक क्रम क्या है? और उनके सांस्कृतिक प्रदेय किस रूप में हैं?

वैदिक एवं श्रमणधारा के उद्भव का मनोवैज्ञानिक आधार

मानव-जीवन में शारीरिक विकास वासना को और चैतसिक विकास विवेक को जन्म देता है। प्रदीप्त-वासना अपनी सन्तुष्टि के लिये 'भोग' की अपेक्षा रखती है तो विशुद्ध-विवेक अपने अस्तित्व के लिये 'संयम' या 'विराग' की अपेक्षा करता है। क्योंकि सराग-विवेक सही निर्णय देने में अक्षम होता है। वस्तुत: वासना भोगों पर जीती है और विवेक विराग पर। यहीं दो अलग-अलग जीवन-दृष्टियों का निर्माण होता है। एक का आधार वासना और भोग होता है तो दूसरी का आधार विवेक और विराग। श्रमण-परम्परा में इनमें से पहली को मिथ्या-दृष्टि और दूसरी को सम्यक्-दृष्टि के नाम से अभिहित किया गया है। उपनिषदों में इन्हें क्रमश: प्रेय और श्रेय के मार्ग कहे गये हैं। कठोपनिषद् में ऋषि कहता है कि प्रेय और श्रेय दोनों ही मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं। उनमें से मन्द-बुद्धि शारीरिक योग-क्षेम अर्थात् प्रेय को और विवेकी पुरुष श्रेय को चुनता है। वासना की तुष्टि के लिये भोग और भोग के साधनों की उपलब्धि के लिये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म अपेक्षित है। इसी भोगप्रधान जीवन-दृष्टि से कर्म-निष्ठा का विकास हुआ है। दूसरी ओर विवेक के लिये विराग (संयम) और विराग के लिये आध्यात्मिक मूल्य-बोध (शरीर के ऊपर आत्मा की प्रधानता का बोध) अपेक्षित है। इसी से आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि या त्याग-मार्ग का विकास हुआ।

इनमें पहली धारा से प्रवर्तक धर्म का और दूसरी से निवर्तक धर्म का उद्‌भव हुआ। प्रवर्तक धर्म का लक्ष्य भोग रहा, अत: उसने अपनी साधना का लक्ष्य सुविधाओं की उपलब्धि को ही बनाया। जहाँ ऐहिक जीवन में उसने धन-धान्य, पुत्र, सम्पत्ति आदि की कामना की, वहीं पारलौकिक जीवन में स्वर्ग (भौतिक सुख-सुविधाओं की उच्चतम अवस्था) की प्राप्ति को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य घोषित किया। पुन: आनुभविक जीवन में जब मनुष्य ने यह देखा कि अलौकिक एवं प्राकृतिक शक्तियाँ उसकी सुख-सुविधाओं की उपलब्धि के प्रयासों को सफल या विफल बना सकती हैं, तो उसने यह माना कि उसकी सुख-सुविधाएँ उसके अपने पुरुषार्थ पर नहीं, अपितु इन शक्तियों की कृपा पर निर्भर है। तब वह इन्हें प्रसन्न करने के लिये एक ओर इनकी स्तुति और प्रार्थना करने लगा तो दूसरी ओर उन्हें बलि और यज्ञों के माध्यम से भी सन्तुष्ट करने लगा। इस प्रकार प्रवर्तक धर्म में दो शाखाओं का विकास हुआ - १. श्रद्धाप्रधान भक्ति-मार्ग और २. यज्ञ-याग प्रधान कर्म-मार्ग।

दूसरी ओर निष्पाप और स्वतन्त्र जीवन जीने की उमंग में निवर्तक धर्म ने निर्वाण या मोक्ष अर्थात् वासनाओं एवं लौकिक एषणाओं से पूर्ण मुक्ति को मानव-जीवन का लक्ष्य माना और इस हेतु ज्ञान और विराग को प्रधानता दी, किन्तु ज्ञान और विराग का यह जीवन सामाजिक एवं पारिवारिक व्यस्तताओं के मध्य सम्भव नहीं था। अत: निवर्तक धर्म मानव को जीवन के कर्म-क्षेत्र से कहीं दूर निर्जन वनखण्डों और गिरि कन्दराओं में ले गया। उसमें जहाँ एक ओर दैहिक मूल्यों एवं वासनाओं के निषेध पर बल दिया गया जिससे वैराग्यमूलक तप मार्ग का विकास हुआ, वहीं दूसरी ओर उस ऐकान्तिक जीवन में चिन्तन और विमर्श के द्वारा खुले, जिज्ञासा का विकास हुआ, जिससे चिन्तनप्रधान ज्ञान-मार्ग का उद्‌भव हुआ। इस प्रकार निवर्तक धर्म भी दो शाखाओं में विभक्त हो गया - १. ज्ञान-मार्ग और २. तप-मार्ग।

मानव प्रकृति के दैहिक और चैतसिक पक्षों के आधार पर प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों के विकास की इस प्रक्रिया को निम्न सारणी के माध्यम से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

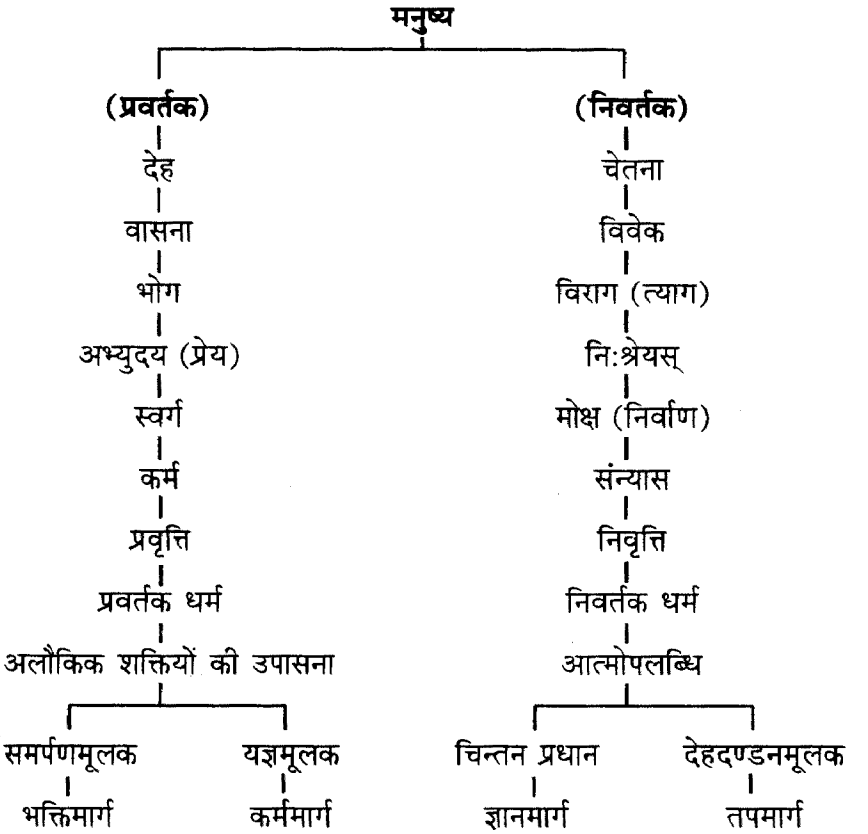

निवर्तक (श्रमण) एवं प्रवर्तक (वैदिक) धर्मों के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय

प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों का यह विकास भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक आधारों पर हुआ था, अत: यह स्वाभाविक था कि उनके दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय भिन्न-भिन्न हों। प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों के इन प्रदेयों और उनके आधार पर उनमें रही हुई पारस्परिक भिन्नता को निम्न सारणी से स्पष्टतया समझा जा सकता है -

प्रवर्तक धर्म	निवर्तक धर्म
१. जैविक मूल्यों की प्रधानता	१. उपासनामूलक आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता
२. विधायक जीवन-दृष्टि	२. निषेधक जीवन-दृष्टि
३. समष्टिवादी	३. व्यष्टिवादी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. व्यवहार में कर्म पर बल फिर भी दैविक शक्तियों की कृपा पर विश्वास	४. व्यवहार में नैष्कर्मण्यता का समर्थन फिर आत्मकल्याण हेतु वैयक्तिक पुरुषार्थ पर बल।
५. ईश्वरवादी	५. अनीश्वरवादी
६. ईश्वरीय कृपा पर विश्वास	६. वैयक्तिक प्रयासों पर विश्वास, कर्म सिद्धान्त का समर्थन।
७. साधना के बाह्य साधनों पर बल	७. आन्तरिक विशुद्धता पर बल।
८. जीवन का लक्ष्य स्वर्ग/ईश्वर के सान्निध्य की प्राप्ति	८. जीवन का लक्ष्य मोक्ष एवं निर्वाण की प्राप्ति।
९. वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद का जन्मना आधार पर समर्थन	९. जातिवाद का विरोध, वर्ण-व्यवस्था का केवल कर्मणा आधार पर समर्थन।
१०. गृहस्थ-जीवन की प्रधानता	१०. संन्यास जीवन की प्रधानता।
११. सामाजिक जीवन शैली	११. एकाकी जीवन शैली।
१२. राजतन्त्र का समर्थन	१२. जनतन्त्र का समर्थन।
१३. शक्तिशाली की पूजा	१३. सदाचारी की पूजा
१४. विधि विधानों एवं कर्मकाण्डों की प्रधानता	१४. ध्यान और तप की प्रधानता।
१५. ब्राह्मण-संस्था (पुरोहित वर्ग) का विकास	१५. श्रमण-संस्था का विकास।
१६. समाधिमूलक	१६. समाधिमूलक

प्रवर्तक धर्म में प्रारम्भ में जैविक मूल्यों की प्रधानता रही, वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखर हुए हैं। उदाहरणार्थ-हम सौ वर्ष जीयें, हमारी सन्तान बलिष्ट हों, हमारी गायें अधिक दूध देवें, वनस्पति प्रचुर मात्रा में हों आदि-आदि । इसके विपरीत निवर्तक धर्म ने जैविक मूल्यों के प्रति एक निषेधात्मक रुख अपनाया, उसने सांसारिक जीवन की दुःखमयता का राग अलापा। उनकी दृष्टि में शरीर आत्मा का बंधन है और संसार दुःखों का सागर। उन्होंने संसार और शरीर दोनों से ही मुक्ति को जीवन-लक्ष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

माना। उनकी दृष्टि में दैहिक आवश्यकताओं का निषेध, अनासक्ति, विराग और आत्म सन्तोष ही सर्वोच्च जीवन मूल्य है।

एक ओर जैविक मूल्यों की प्रधानता का परिणाम यह हुआ है कि प्रवर्तक धर्म में जीवन के प्रति एक विधायक दृष्टि का निर्माण हुआ तथा जीवन को सर्वतोभावेन वांछनीय और रक्षणीय माना गया, तो दूसरी ओर जैविक मूल्यों के निषेध से जीवन के प्रति एक ऐसी निषेधात्मक दृष्टि का विकास हुआ जिसमें शारीरिक माँगों को ठुकराना ही जीवन-लक्ष्य मान लिया गया और देह-दण्डन ही तप-त्याग और आध्यात्मिकता के प्रतीक बन गए। प्रवर्तक धर्म जैविक मूल्यों पर बल देता है अत: स्वाभाविक रूप से वह समाजगामी बना, क्योंकि दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति, जिसका एक अंग काम भी है, की पूर्ण संतुष्टि तो समाज-जीवन में ही सम्भव थी, किन्तु विराग और त्याग पर अधिक बल देने के कारण निवर्तक धर्म समाज-विमुख और वैयक्तिक बन गये । यद्यपि दैहिक मूल्यों की उपलब्धि हेतु कर्म आवश्यक थे किन्तु जब मनुष्य ने यह देखा कि दैहिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये उसके वैयक्तिक प्रयासों के बावजूद उनकी पूर्ति या आपूर्ति किन्हीं अन्य शक्तियों पर निर्भर है, तो वह दैववादी और ईश्वरवादी बन गया। विश्व व्यवस्था और प्राकृतिक शक्तियों के नियन्त्रक तत्त्वों के रूप में उसने विभिन्न देवों और फिर ईश्वर की कल्पना की और उनकी कृपा की आकांक्षा करने लगा। इसके विपरीत निवर्तक धर्म व्यवहार में नैष्कर्मण्यता का समर्थक होते हुए भी कर्म-सिद्धान्त के प्रति आस्था के कारण यह मानने लगा कि व्यक्ति का बन्धन और मुक्ति स्वयं उसके कारण है, अत: निवर्तक धर्म पुरुषार्थवाद और वैयक्तिक प्रयासों में आस्था रखने लगा। अनीश्वरवाद, पुरुषार्थवाद और कर्म-सिद्धान्त उसके प्रमुख तत्त्व बन गए। साधना के क्षेत्र में जहाँ प्रवर्तक धर्मों में अलौकिक दैवीय शक्तियों की प्रसन्नता के निमित्त कर्मकाण्ड और बाह्य-विधानों (यज्ञ-याग) का विकास हुआ, वहीं निवर्तक धर्मों ने चित्त शुद्धि और सदाचार पर अधिक बल दिया तथा किन्हीं दैवीय शक्तियों के निमित्त कर्मकाण्ड के सम्पादन को अनावश्यक माना।

श्रमण और वैदिक धाराओं की प्राचीनता का प्रश्न

यहां स्वभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रमण धारा और वैदिक धारा में कौन प्राचीन है?

इस प्रश्न का उत्तर दो दृष्टियों से दिया जा सकता है - (१) मनोवैज्ञानिक दृष्टि से और (२) ऐतिहासिक दृष्टि से।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहां तक मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय दृष्टि का प्रश्न है हमें यह स्वीकार करना होगा कि मानवीय सभ्यता और संस्कृति का एक कालक्रम में विकास हुआ है। मनुष्य प्रारम्भ में एक विवेकशील विकसित प्राणी के रूप में ही प्रकृति पर आश्रित होकर अपना जीवन जीता था। उसमें सभ्यता, संस्कृति और आध्यात्मिक चेतना का विकास एक परवर्ती घटना है। अपने प्राकृत जीवन से सामाजिक जीवन और सामाजिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर उसका क्रमिक विकास हुआ है। जैन परम्परा की दृष्टि से भी विचार करें तो यौगलिक परम्परा से कुलकर परम्परा और उससे राज्य व्यवस्था, धर्म व्यवस्था, सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ है। विशुद्ध प्राकृतिक जीवन से सामाजिक जीवन और सामाजिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर उसने एक यात्रा की है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह लगता है कि प्रारम्भ में प्रवर्तक धारा या वैदिक धारा ही अस्तित्व में आयी। जैसे-जैसे प्राकृतिक संसाधनों में कमी आई और मनुष्यों की संख्या में भी वृद्धि हुई, जैविक आवश्यकताओं के साधनों पर आधिपत्य की भावना जागृत हुई। उन जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों की अधिकतम उपलब्धि कैसे हो, उसी हेतु प्रकृति पूजा और तज्जन्य प्राकृतिक शक्तियों में देवत्व का आरोपण करने वाले वैदिक धर्म का विकास हुआ। किन्तु जब व्यक्ति इन भौतिक उपलब्धियों से आत्मतोष नहीं पा सका और उनके निमित्त से उसका वैयक्तिक और सामाजिक जीवन संघर्षों और तनावों से ग्रस्त हो गया होगा तो वह आध्यात्मिक शान्ति की खोज में निकला होगा और उसी से आध्यात्मिक श्रमण धारा का विकास हुआ। प्रारम्भिक अवस्था में उसके सामने मुख्य समस्याएं उसकी जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति ही रही होगी। कहा भी है - "भूखे भजन न होंहि गोपाला"। अत: स्वाभाविक है कि पहले प्रवर्तक वैदिक धर्म का विकास हुआ होगा किन्तु जैसा ईसामसीह का कथन है कि - "Man can not live by bread alone" अर्थात् मनुष्य केवल रोटी पर जिन्दा नहीं रह सकता, परिणामत: उसकी आध्यात्मिक भूख और जिज्ञासावृत्ति जाग्रत हुई और उसने आध्यात्मिक एवं निवृत्तिमूलक धर्मो को जन्म दिया। क्योंकि मूल्य व्यवस्था के क्रम में भी जैविक और सामाजिक मूल्यों के बाद ही आध्यात्मिक मूल्यों की ओर रुझान होती है। जैविक और सामाजिक मूल्यों की उपेक्षा करके आध्यात्मिक मूल्यों को जीना, चाहे किसी व्यक्ति विशेष के लिए सम्भव हो, किन्तु वह सार्वभौमिक और सार्वजनिक नहीं हो सकता।

जहां तक ऐतिहासिक साक्ष्यों का प्रश्न है भारतीय संस्कृति को समझने के लिये हमारे सामने दो ही प्रमाण हैं - १. साहित्यिक और २. पुरातात्त्विक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहित्यिक प्रमाणों की अपेक्षा से हमें जो प्राचीनतम ग्रन्थ उपलब्ध है, वह ऋग्वेद है। ऋग्वेद न केवल भारतीय साहित्य अपितु विश्व साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। दूसरी ओर पुरातात्त्विक दृष्टि से जो साक्ष्य हमें उपलब्ध है उनमें मोहनजोदड़ो और हड़प्पा ही प्राचीनतम हैं। वैदिक और श्रमण संस्कृतियों में कौन प्राचीन है इसका ऐतिहासिक दृष्टि से निर्णय इन्हीं दो साक्ष्यों पर निर्भर करेगा।

जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं, साहित्यिक साक्ष्यों में ऋग्वेद प्राचीनतम है। ऋग्वेद में श्रमणधारा के प्रमुख शब्दों में अरहन्त, वातरशनामुनि, श्रमण, व्रात्य आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद आर्हत् और बार्हत् ऐसी दो परम्पराओं का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख करता है। ऋग्वेद में इन दोनों परम्पराओं के उल्लेख इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं कि ऋग्वेद के रचनाकाल में दोनों ही परम्पराएं अपना अस्तित्व रखती थीं। ऋग्वेद में न केवल अरहन्त एवं अर्हत् शब्द मिलते हैं, अपितु आर्हत् परम्परा का और उसके आद्य संस्थापक ऋषभ के भी उल्लेख हैं। ऋग्वेद में ११२ ऋचाओं में 'ऋषभ' शब्द का उल्लेख है। यद्यपि सर्व स्थलों पर 'ऋषभ' शब्द तीर्थंकर ऋषभ का वाचक है, यह कहना तो कठिन है किन्तु उन ऋचाओं के आधार पर यह मानना भी सम्भव नहीं है कि वे सभी ऋचाएं सामान्यत: वृषभ (बैल) की वाचक हैं। यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि - औपनिषदिक सूक्तों और वैदिक ऋचाओं में अनेक ऐसी हैं जो प्रतीकात्मक हैं। क्योंकि उन्हें प्रतीकात्मक माने बिना उनका कोई भी वास्तविक अर्थ नहीं निकल सकता। उदाहरण के रूप में श्वेताश्वतरोपनिषद् का यह कथन लें, "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी: प्रजा: सृजामानासरूपा"- सामान्य शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से इसका अर्थ होगा कि लाल, काले और सफेद रंग की एक बकरी अपने ही समान सन्तानों को जन्म देती है, किन्तु दार्शनिक दृष्टि से इसका अर्थ है कि सत्व, रजस् और तमस्गुण से युक्त प्रकृति अपने ही समान सृष्टि को जन्म देती है। वस्तुत: यही स्थिति ऋग्वेद की ऋषभवाची ऋचाओं की हैं। अत: उनका प्रतीकात्मक अर्थ किस प्रकार जैन या श्रमण परम्परा से सम्बद्ध प्रतीत होता है, इसकी विस्तृत चर्चा हमने ऋग्वेद में ऋषभ वाची ऋचाएं नामक एक लेख में की है। विस्तार भय से यहां उस चर्चा में उतरना तो सम्भव नहीं है, किन्तु इतना निश्चित है कि ऋग्वेद के काल में इस देश में आर्हत् और बार्हत् दोनों ही परम्पराएं जीवित थीं अर्थात् वैदिक और श्रमण धाराओं का सह-अस्तित्व था।

जहां तक पुरातात्त्विक साक्ष्यों का प्रश्न है मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन में अनेक ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं जो श्रमण या आर्हत् परम्परा के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। हड़प्पा के उत्खनन में हमें ध्यानस्थ योगियों की अनेक सीलें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपलब्ध होती हैं, जिनमें खड्गासन या पद्मासन की मुद्रा में योगी ध्यान में बैठे दिखाये गये हैं। यद्यपि इन पुरातात्त्विक साक्ष्यों में अनेक अभिलेख भी हैं, जो अभी तक नहीं पढ़े गये हैं। किन्तु इनसे इतना तो सिद्ध होता है कि उस काल में एक सुसंस्कृत सभ्यता अस्तित्व में थी और उसका बहुत कुछ सम्बन्ध प्राचीन आर्हत् धारा की योग, शैव आदि श्रमण धारा की परम्पराओं से रहा है। शैव परम्परा अवैदिक परम्परा है, इसे अनेक विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। वस्तुत: सांख्य योग, शैव, आजीवक, बौद्ध और जैन ये सभी परम्पराएं मूल में प्राचीन आर्हत् श्रमण धाराओं के ही विविध रूप हैं। इन सब साक्ष्यों को चाहे हम स्पष्ट रूप से निर्ग्रन्थ या जैन उद्घोषित न भी कर सकें तो भी ये सभी साक्ष्य आर्हत् श्रमणधारा के ही सूचक हैं। औपनिषदिक धारा के साथ-साथ सांख्य-योग आदि परम्पराएं भी मूलत: श्रमण ही हैं और इस दृष्टि से विचार करने पर यह सिद्ध हो जाता है कि श्रमण परम्परा भी उतनी ही प्राचीन है जितनी वैदिक परम्परा।

भारतीय श्रमण परम्परा के विभिन्न घटक

भारतीय श्रमण परम्परा या आर्हत् परम्परा एक अतिव्यापक परम्परा है। औपनिषदिक, जैन और बौद्ध साहित्य के प्राचीन अंशों में इसके अस्तित्व के संकेत उपलब्ध होते हैं। इस श्रमण परम्परा का प्राचीनतम संकेत ऋग्वेद (१०/१३६/२) में वातरशना मुनि के उल्लेख के रूप में भी उपलब्ध है। जिसका सामान्य अर्थ नग्न मुनि या वायु का भक्षण कर जीवित रहने वाले मुनि, ऐसा होता है। ऋग्वेद में जीर्ण और मलयुक्त अर्थात् मैले वस्त्र धारण करने वाले पिशंगवसना मुनियों का भी उल्लेख मिलता है। यह सब उल्लेख इस तथ्य के प्रमाण हैं कि ऋग्वैदिक काल में श्रमण परम्परा का अस्तित्व था। पुन: ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि में जो व्रात्यों का उल्लेख उपलब्ध होता है वह भी श्रमणधारा की प्राचीनता का सूचक है। इसका एक प्रमाण यह है कि आरण्यकों में श्रमणों और वातरशना मुनियों को एक ही बताया गया है। इसी प्रकार उपनिषदों (बृहदा० ४/३/२२) में तापसों और श्रमणों को एक बताया गया है। जैन परम्परा में भी श्रमणों के पांच प्रकारों की चर्चा करते हुए उनमें निर्ग्रन्थ, आजीवक, शाक्यपुत्रीय श्रमण, गैरिक और तापस ऐसे पांच विभाग मिलते हैं। यदि हम औपनिषदिक, बौद्ध और जैन धारा के प्राचीन साहित्य का अध्ययन करते हैं तो हमें इस प्राचीन श्रमण धारा की व्यापकता का ज्ञान हो जाता है। इस सम्बन्ध में अति विशद् चर्चा तो यहाँ सम्भव नहीं है किन्तु यदि हम बृहदारण्यकोपनिषद् (६/५/३-४ पृ. ३५६ तथा ४/६/१-३) के ब्रह्मवेत्ता ऋषियों की वंशावली, बौद्ध परम्परा की थेरगाथा, तथा जैन परम्परा के ग्रन्थ ऋषिभाषित के ऋषियों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करें तो हमें भारतीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमण धारा की व्यापकता का पता लग सकता है। क्योंकि इन तीनों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर इनमें अनेक नाम समान रूप से पाये जाते हैं जो इस तथ्य के सूचक हैं कि भारतीय श्रमणधारा का मूल स्रोत एक ही है।

औपनिषदिक धारा को श्रमणधारा के साथ संयोजित करने के पीछे मुख्य रूप से निम्न आधार हैं -

औपनिषदिक धारा मूलत: कर्मकाण्ड की विरोधी है। उपनिषदों में न केवल वैदिक कर्मकाण्ड की उपेक्षा की गई है अपितु मुण्डकोपनिषद् (१/२/७) में यह कहकर कि यज्ञ रूपी ये नौकाएं अदृढ़ हैं, सछिद्र हैं, ये संसार सागर में डुबाने वाली हैं, न केवल वैदिक कर्मकाण्ड की आलोचना की है अपितु यह कहकर कि जो इसे श्रेय मानकर इसका अभिनन्दन करता है, वह मूढ़ पुरुष जरा और मृत्यु को प्राप्त होता है, कर्मकाण्ड की हेयता को भी उजागर किया गया है। इसके साथ-साथ बृहदारण्यकोपनिषद् (६/२/८) में जनक के द्वारा याज्ञवल्क्य को स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि यह अध्यात्म विद्या पहले किसी भी ब्राह्मण के पास नहीं रही है, तुम्हारी नम्रतायुक्त प्रार्थना को देखकर ही मैं तुम्हें प्रदान करता हूँ। इस परिचर्चा में न केवल भौतिक उपलब्धियों को हीन बताया गया है, अपितु यज्ञ रूपी कर्मकाण्ड को प्राकृतिक शक्तियों के साथ समन्वय करते हुए उनका किसी रूप में आध्यात्मीकरण भी किया गया है। इस उपनिषद् में (६/२/१६ पृ. ३४५) स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि वे लोक जो यज्ञ, दान, तपस्या के द्वारा लोकों पर विजय प्राप्त करते हैं वे धूम मार्ग को प्राप्त होते हैं । ज्ञातव्य है कि यहाँ धूम मार्ग को जन्म-मरण की परम्परा को बढ़ाने वाला कहा गया है। यद्यपि उपनिषदों में अनेक स्थलों पर कर्मकाण्ड सम्बन्धी उल्लेख मिल जाते हैं किन्तु औपनिषदिक ऋषि उनकी श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं करते थे। दूसरा महत्त्वपूर्ण संकेत उपनिषदों में यह मिलता है कि उनमें यज्ञीय कर्मकाण्ड का आध्यात्मीकरण किया गया है। आत्मतत्त्व की सर्वोपरिता औपनिषदिक चिन्तन के आध्यात्मिक होने का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण हैं (ऐतरेयोपनिषद् १/१/१)। यज्ञ के आध्यात्मीकरण के कुछ उल्लेख यहा प्रस्तुत किये जाते हैं :-

बृहदारण्यकोपनिषद् (६/२/१२) में कहा गया है कि पुरुष ही अग्नि है। उसका खुला हुआ मुख ही समिधाएं हैं, प्राण ही धुंआ है, वाणी ही ज्वाला है, चक्षु ही अंगारे हैं, श्रोत्र ही चिंगारी है। इस अग्नि में ही समस्त देवता अन्न का होम करते हैं। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि यद्यपि बृहदारण्यक को उपनिषद् की कोटि में गिना जाता है, किन्तु मूल में वह आरण्यक वर्ग का ही है। आरण्यक उस स्थिति के सूचक हैं जब वैदिक कर्मकाण्ड आध्यात्मिक स्वरूप ग्रहण करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की ओर प्रथमत: प्रस्थित हुआ था। उपनिषदों के आध्यात्मिक पक्ष को समझने के लिए मुण्डकोपनिषद् के प्रथम खण्ड के दस और द्वितीय खण्ड के आठ श्लोक विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट रूप से औपनिषदिक धारा के श्रमणधारा होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। इसी प्रकार कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की द्वितीय वल्ली के प्रारम्भ में जो श्रेय और प्रेय मार्ग का विवेचन कर श्रेय मार्ग की प्रमुखता बताई गई है वह भी औपनिषदिक धारा के श्रमण धारा के निकट होने का प्रमाण है।

मुण्डकोपनिषद् (३/१/५) का यह कथन कि "इस शरीर के भीतर जो आत्मतत्त्व उपस्थित है उसे सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य के द्वारा दोषों से क्षीण यतीगण देख लेते हैं" जैन दर्शन के सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप रूप मोक्षमार्ग को ही प्रतिध्वनित करता है। इसी प्रकार "यह आत्मा वाणी, मेधा (बुद्धि) अथवा शास्त्र-श्रवण से प्राप्त नहीं होती। वस्तुत: जो इसे जानना चाहता है उसके सामने यह आत्मा स्वयं ही अपने स्वरूप को उद्घाटित कर देता है।" (मुण्डकोपनिषद् ३/२/३) का यह कथन हमें जैन आगम आचारांग में भी मिलता है। उपनिषदों में ऐसे अनेकों वचन उपलब्ध हैं जो श्रमण परम्परा की अवधारणा से तादात्म्य रखते हैं। यह सत्य है कि उपनिषदों पर वैदिक परम्परा का भी प्रभाव देखा जाता है, क्योंकि मूलत: औपनिषदिक धारा वैदिक धारा और श्रमण धारा के समन्वय का ही परिणाम है। श्वेताश्वेतर उपनिषद् (४/५/६) में भी सांख्य दर्शन का - विशेष रूप से त्रिगुणात्मक प्रकृति एवं दो पक्षियों के उदाहरण द्वारा आसक्त एवं अनासक्त जीवों का जो चित्रण है वह स्पष्ट रूप से सांख्य दर्शन और औपनिषदिक धारा की श्रमण परम्परा के साथ सहधर्मिता को ही सूचित करता है। इसी क्रम में बृहदारण्यक उपनिषद् (४/४/१२) का यह कथन कि, "पुरुष के द्वारा आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाने पर उसे किसी कामना या इच्छा से दु:खी नहीं होना पड़ता है" तथा इसी उपनिषद् (४/४/२२) में आगे यह कथन कि "यह आत्मा महान्, अजन्मा, विज्ञानमय, हृदयाकाशशायी है और इसे जानने के लिये ही मुनिजन पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लोकैषणा का परित्याग कर भिक्षाचर्या से जीवन जीते हैं। इस आत्मा की महिमा नित्य है, वह कर्म के द्वारा न तो वृद्धि को प्राप्त होती है न ह्रास को। इस आत्मा को जानकर व्यक्ति कर्मों से लिप्त नहीं होता। इस आत्मा का ज्ञान रखने वाला शांतचित्त, तपस्वी उपरत, सहनशील और समाहित चित्त वाला आत्मा, आत्मा में ही आत्मा का दर्शन कर सभी को अपनी आत्मा के समान देखता है, उससे कोई पाप नहीं होता, वह पापशून्य, मलरहित, संशयहीन ब्राह्मण ब्रह्मलोक को प्राप्त हो जाता है (बृहदारण्यक ४/४/२३) औपनिषदिक धारा के श्रमण धारा से नैकट्य को ही सूचित करता है। वस्तुत:

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बृहारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य और जनक का संवाद तथा याज्ञवल्क्य का अपनी पत्नियों- मैत्रेयी और कात्यायनी का संवाद औपनिषदिक ऋषियों के श्रमणधारा से प्रभावित होने की घटना को ही अभिव्यक्त करते हैं (बृहदारण्यकोपनिषद् ४/५/१ से ७ तक)। यहां हमने प्रसंगवश केवल प्राचीन माने जाने वाले कुछ उपनिषदों के ही संकेत प्रस्तुत किये हैं। परवर्ती उपनिषदों में तो श्रमणधारा से प्रभावित यह आध्यात्मिक चिंतन अधिक विस्तार और स्पष्टता से उपलब्ध होता है।

यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि वैदिक धारा ब्राह्मणों और आरण्यकों से गुजरते हुए औपनिषदिक काल तक श्रमणधारा से मिलती है। यह श्रमणधारा एक ओर वैदिकधारा से समन्वित होकर कालक्रम में सनातन हिन्दू धर्म के रूप में विकसित होती है तो दूसरी ओर वैदिक धारा से अपने को अप्रभावित रखते हुए मूल श्रमणधारा- जैन, बौद्ध और आजीवक परम्परा के रूप में विभक्त होकर विकसित होती है। फिर भी जैन, बौद्ध और आजीवक सम्प्रदायों के नामकरण एवं विकास के पूर्व भी यह श्रमणधारा सामान्य रूप से प्रवाहित होती रही है। यही कारण है कि इन धाराओं के अनेक पूर्व पुरुष न केवल जैन, बौद्ध और आजीवक परम्परा में समान रूप में स्वीकृत हुए, किन्तु औपनिषदिक चिन्तन और उससे विकसित परवर्ती हिन्दू धर्म की विविध शाखाओं में भी समान रूप से मान्य किए गये हैं। यदि हम उपनिषदों में दिये गये ऋषिवंश, जैन ग्रन्थ ऋषिभाषित में उल्लेखित ऋषिगणों तथा बौद्ध ग्रन्थ थेरगाथा में उल्लेखित थेरों का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करें तो हमें ऐसा लगता है कि औपनिषदिक, बौद्ध, जैन और आजीवक धाराएं अपनी पूर्व अवस्था में संकुचितता के घेरे से पूर्णतया मुक्त थीं और एक समन्वित मूलस्रोत का ही संकेत करती हैं।

१. देवनारद, वज्जीपुत्त, असितदेवल, अंगिरस, भारद्वाज, पुष्पशालपुत्र, वल्कलचीरि, कुम्मापुत्र, केतलीपुत्र, महाकाश्यप, तैतलीपुत्र, मंखलीपुत्र (गोशालक), याज्ञवल्क्य, मेतज्यभयालीबाहुक (मेतार्यभयाली), मधुरायन, शोर्यायन, विदुर, वारिसेनकृष्ण, आर्यायन, उत्कट, गाथापतिपुत्र, गर्दभाल, रामपुत्त, हरिगिरी, अम्बड़परिव्राजक, मातंग, वारत्तक, आद्रक, वर्धमान, वायु, पार्श्व, पिंग, महाशालपुत्र अरुण, ऋषिगिरी, उद्दालक, नारायण (वारायण), श्रीगिरी, सारिपुत्र, संजय, द्वैपायन, इन्द्रनाग, सोम, यम, वर्ण, वरुण, वैश्रमण आदि।

(१) बृहदारण्यकोपनिषद् (बृहदा॰ ४/५) याज्ञवल्क्यीय परम्परा की सूची

१. ब्रह्म	३१. औपजंधनि
२. परमेष्ठि	३२. त्रैवनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. सनक
४. सनातन
५. सन्नारु
६. व्यष्टि
७. विप्रचित्त
८. एकर्षि
९. प्राध्वन्सन
१०. मृत्यु
११. अथर्वावादेव
१२. दध्यण्आथर्वण
१३. दधिचि
१४. अश्विनी कुमार
१५. विश्वरूपात्वाष्ट्र
१६. आभूतित्वाराष्ट्र
१७. आङ्गिरस
१८. पथ:सौभर
१९. बाभ्रवदत्सनपाद्वाभ्रव
२०. विदर्भी कौण्डिन्य
२१. गालव
२२. कुमार हारित
२३. कैशोर्यात्काप्य
२४. शांडिल्य
२५. वात्स्य
२६. गौतम
२७. माण्टि
२८. आत्रेय
२९. भारद्वाज
३०. आसुरि
३३. असुरायन-यास्क जातुकर्ण्य
३४. पाराशर
३५. पाराशर्यायण
३६. घृतकौशिक
३७. कौशिकायनी
३८. सायकायण
३९. काशायण
४०. सौकरायण
४१. माध्यन्दिन
४२. जाबाल
४३. उद्दालका
४४. गार्ग्यपुत्र
४५. पाराशर्यायण
४६. सैतव
४७. गौतम
४८. गर्गवंशी
४९. गार्ग्य
५०. अग्निवैश्य
५१. गौतम
५२. कौशिक
५३. शांडिल्य
५४. कोण्डिन्य
५५. कौशिक
५६. गौपवन
५७. पौतिमाष्य
५८. गौपवन
५९. पौतिमाष्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(२) बृहदाख्यकोपनिषद् (बृहदा० ६/४)

१. आदित्य
२. अंभिनी
३. वाक्
४. नैध्रुवीकश्यप
५. शिल्पकश्यप
६. हरितकश्यप
७. असिताद्वार्पगण
८. जीह्वावान्वाध्ययोग
९. वाजश्रवा
१०. कूश्री
११. उपवेशी
१२. अरुण
१३. उद्दालक
१४. याज्ञवल्क्य
१५. आसुरी
१६. प्राश्नीपुत्र आसुरायन
१७. प्राश्नीपुत्र असुरि
१८. सांजीवीपुत्र
१९. प्राचीनयोगीपुत्र
२०. कार्शकैयीपुत्र
२१. वैदभृत्तिपुत्र
२२. क्रौञ्चिकीपुत्र
२३. भालुकीपुत्र
२४. राथीतरी पुत्र
२५. शांण्डिलीपुत्र
२६. माण्डुकीपुत्र
२७. माण्डुकायनीपुत्र
२८. जायन्ती
२९. आलम्बीपुत्र
३०. आलम्बायनीपुत्र
३१. सांकृतीपुत्र
३२. शौङ्गीपुत्र
३३. आर्तभागीपुत्र
३४. वार्कारुणीपुत्र
३५. पाराशरीयपुत्र
३६. वात्सीपुत्र
३७. पाराशरीयपुत्र
३८. भारद्वाजीपुत्र
३९. गौतमी सूत
४०. आत्रेयी पुत्री
४१. कापीपुत्र
४२. काण्वीपुत्र
४३. वैयाघ्रपदीपुत्र
४४. आलम्बीपुत्र
४५. कौशिकीपुत्र
४६. कात्यायनीपुत्र
४७. पाराशरीपुत्र
४८. भारद्वाजीयपुत्र
४९. गौतमी पुत्र
५०. कात्यायनीपुत्र
५१. पौतिमाषी पुत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(३) थेरगाथान्तर्गत बौद्ध परम्परा की सूची

१. ब्रह्म	२. प्रजापति
३. कावशैय	४. यज्ञवचाराजस्तम्बायन
५. कुश्रि	६. वात्स्य
७. शाण्डिल्य	८. वामकशायन
९. माहित्थि	१०. कौत्स
११. माण्डण्य	१२. माण्डुकायनी
१३. सांजीवी	१४. आगे की परम्परा समान।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपरोक्त सूचियों के अवलोकन से एक बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि इन तीनों ही सूचियों में कुछ नाम समान रूप से पाये जाते हैं। विशेष रूप से औपनिषदिक सूचियों के कुछ नाम ऋषिभाषित की सूची में और कुछ नाम थेरगाथा की सूची में पाये जाते हैं। मात्र यही नहीं ऋषिभाषित की सूची के कुछ नाम थेरगाथा की सूची के साथ-साथ सुत्तनिपात आदि बौद्ध पिटक साहित्य के ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। सामान्यतया यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि एक नाम के कई व्यक्ति विभिन्न कालों में भी हो सकते हैं और एक काल में भी हो सकते हैं ? किन्तु जब हम इन सूचियों में प्रस्तुत कुछ व्यक्तित्वों का गम्भीरता से अध्ययन करते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि इन सूचियों में जो नाम समान रूप से मिलते हैं वे भिन्न व्यक्तियों के सूचक नहीं हैं, अपितु इससे भिन्न यही सिद्ध होता है कि वे एक ही व्यक्ति के नाम हैं। उदाहरण के रूप में - याज्ञवल्क्य का नाम शतपथब्राह्मण, सांख्यायन आरण्यक, बृहदारण्यकोपनिषद्, महाभारत के सभापर्व, वनपर्व एवं सांख्यपर्व में मिलता है तो दूसरी ओर वह हमें ऋषिभाषित की सूची में भी मिलता है। जब हम ऋषिभाषित प्रस्तुत याज्ञवल्क्य के उपदेश की बृहदारण्यकोपनिषद् में उनके उपदेश से तुलना करते हैं तो स्पष्ट रूप से लगता है कि वे दोनों ही स्थलों पर वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा के त्याग की बात करते हैं। दोनों परम्पराओं में उनके उपदेश की इस समानता के आधार पर उन्हें दो भिन्न व्यक्ति नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार जब हम थेरगाथा के गोशाल थेर, ऋषिभाषित के मंखलीपुत्र (गोशालक) तथा महाभारत के मंकी (मंखी) ऋषि के उपदेशों की तुलना करते हैं तो तीनों ही स्थानों पर उनकी प्रमुख मान्यता नियतिवाद के सम्पोषक तत्त्व मिल जाते हैं। अत: हम इन तीनों को अलग-अलग व्यक्ति नहीं मान सकते। इसी प्रकार जब हम ऋषिभाषित के वर्धमान और थेरगाथा के वर्धमान थेर की तुलना करते हैं तो हम पाते हैं कि थेरगाथा की अट्ठकथा में वर्धमान थेर को वैशाली गणराज्य के लिच्छवी वंश का राजकुमार बताया गया है, अत: वे वर्धमान महावीर ही हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि न केवल थेरगथा अपितु बौद्ध त्रिपिटक साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों में उल्लिखित नाटपुत्र (ज्ञातपुत्र) जैन परम्परा के वर्धमान महावीर ही हैं। सूत्रकृतांग की महावीर स्तुति में महावीर के लिये जो 'सव्ववारिवारित्तो' का निर्देश है वह त्रिपिटक के ग्रन्थों में समान रूप से पाया जाता है। अत: थेरगाथा के वर्धमान थेर और जैन परम्परा के महावीर भिन्न व्यक्ति नहीं हैं। इसी प्रकार पिंग ऋषि का जो उल्लेख ऋषिभाषित, सुत्तनिपात और महाभारत में पाया जाता है कि उसके आधार पर उन्हें अलग-अलग व्यक्ति नहीं माना जा सकता। जैन परम्परा के ऋषिभाषित, सूत्रकृतांग, स्थानांग और अनुत्तरौपपातिक तथा बौद्ध परम्परा के त्रिपिटक साहित्य के अनेक ग्रन्थों में रामपुत्त का उल्लेख मिलता है, उन्हें भी अलग-अलग व्यक्ति नहीं माना जा सकता। अत: तीनों परम्परा में जो कुछ नाम समान रूप से मिलते हैं उन्हें भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानना पक्षाग्रह का ही सूचक होगा।

इन समरूपताओं से यही सूचित होता है कि जिस प्रकार चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में भारत में सन्तों की सामन्जस्यपूर्ण परम्परा रही है वैसे ही बुद्ध और महावीर के पूर्व और उनकी समकालिक ऋषि परम्परा रही है। कालान्तर में जब धर्म-सम्प्रदायों का गठन हुआ, तो इसी पूर्व परम्परा में से मन्तव्य आदि की अपेक्षा जो अधिक समीप लगे उनको अपनी धारा में स्थान दे दिया गया और शेष की उपेक्षा कर दी गई। यह भी हुआ कि कालान्तर में जब साम्प्रदायिक आग्रह दृढ़मूल होने लगे तो पूर्व में स्वीकृत ऋषियों को भी अपनी परम्परा से अभिन्न बताने हेतु उन्हें भिन्न व्यक्ति बताने का प्रयत्न किया गया। यह स्थिति जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में घटित हुई। यही कारण रहा कि कालान्तर में ऋषिभाषित को मूलागम साहित्य से हटा कर प्रकीर्णक साहित्य में डाल दिया गया और आगे चलकर उसे वहां से भी हटा दिया गया। चाहे हम सहमत हों या न हों किन्तु यह सत्य है कि प्राचीन भारत की इसी श्रमण धारा की ऋषि परम्परा से औपनिषदिक बौद्ध, जैन, आजीवक और सांख्य, योग आदि का विकास हुआ है। जैन धारा मूलत: श्रमणधारा का ही एक अंग हैं। सूत्रकृतांग में आचार और विचारगत मतभेदों के बावजूद भी विदेह, नमी, रामपुत्त, बाहुक, उदक, नारायण, असितदेवल, द्वैपायन, पाराशर आदि को अपनी परम्परा से सम्मत बताते हुए तपोधन, तात्त्विक महापुरुष तथा सिद्धि को प्राप्त कहा गया है। यह इस तथ्य का सूचक है कि मूल में भारतीय श्रमणधारा एक रही है और औपनिषदिक, सांख्य, योग, बौद्ध, जैन और आजीवक परम्पराएँ इसी श्रमणधारा से विकसित हुई हैं और किसी न किसी रूप में उसकी अंगीभूत भी हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महावीर का श्रावक वर्ग तब और अब एक आत्मविश्लेषण

प्रस्तुत आलेख में हमारा प्रतिपाद्य भगवान महावीर की श्रावक संस्था की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समीक्षा करना है।

जैन धर्म निवृत्तिपरक धर्म है। संन्यास की अवधारणा निवृत्तिपरक धर्मों का हार्द है। इस आधार पर सामान्यतया यह माना जाता रहा है कि निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा में गृहस्थ का वह स्थान नहीं रहा, जो कि प्रवृत्तिमार्गी हिन्दू परम्परा में उसे प्राप्त था। प्रवृत्तिमार्गी परम्परा में गृहस्थ आश्रम को सभी आश्रमों का आधार माना गया था। यद्यपि श्रमण परम्परा में संन्यास धर्म की प्रमुखता रही, किन्तु यह समझ लेना भ्रांतिपूर्ण होगा कि उसमें गृहस्थ धर्म उपेक्षित रहा। वे श्रमण परम्पराएँ, जो संघीय व्यवस्था को लेकर विकसित हुईं, उनमें गृहस्थ या उपासक वर्ग को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। भारतीय श्रमण परम्परा में जैन, बौद्ध, आदि ऐसी परम्पराएँ थीं जिन्होंने संघीय साधना को महत्त्व दिया। भगवान महावीर ने अपनी तीर्थ स्थापना में श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविकारूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की। भगवान महावीर की परम्परा में ये चारों ही धर्म संघ के प्रमुख स्तम्भ माने जाते हैं। उन्होंने अपनी संघ व्यवस्था में गृहस्थ उपासक एवं उपासिकाओं को स्थान देकर, उनके महत्त्व को स्वीकार किया है। महावीर की संघ व्यवस्था साधना के क्षेत्र में स्त्री वर्ग और गृहस्थ वर्ग दोनों के महत्त्व को स्वीकार करती है। उन्होंने सूत्रकृतांग (२/२/३९) में स्पष्ट रूप से यह कहा था कि अणुव्रत के रूप में अहिंसा का पालन करने वाला गृहस्थ धर्म भी आर्य है और समस्त दुःखों का अन्त करने वाला पूर्णतया सम्यक् और साधु है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है, कि चाहे सामान्य रूप से गृहस्थों की अपेक्षा श्रमण को श्रेष्ठ माना जाए, किन्तु कुछ गृहस्थ ऐसे भी होते हैं जो श्रमणों की अपेक्षा संयम के परिपालन में श्रेष्ठ होते हैं । महावीर के शासन में महत्त्व वेश का नहीं है, आध्यात्मिक निष्ठा का है। आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में श्रेष्ठता और निम्नता का आधार आध्यात्मिक जागरुकता, अप्रमत्तता, अनासक्ति और निराकुलता है। जिसका चित्त निराकुल और शान्त है, जो अपने कर्तव्य पथ पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूरी ईमानदारी के साथ चल रहा है, जिसकी अन्तरात्मा निर्मल और विशुद्ध है, वह महावीर के मुक्ति पथ पर चलने का अधिकारी है।

भगवान महावीर ने अपने धर्म मार्ग में साधना एवं संघ व्यवस्था की दृष्टि से गृहस्थ को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया था। यदि मध्यवर्ती युगों को देखें तो भी यह बात अधिक सत्य प्रतीत होती है, क्योंकि मध्ययुग में भी जैन धर्म और संस्कृति को सुरक्षित रखने में गृहस्थ वर्ग का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने न केवल भव्य जिनालय बनवाये और ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करवाकर साहित्य की सुरक्षा की, अपितु अपने त्याग से संघ और समाज की सेवा भी की । यदि हम वर्तमान काल में जैन धर्म में गृहस्थ वर्ग के स्थान और महत्त्व के सम्बन्ध में विचार करें, तो आज भी ऐसा लगता है कि जैन धर्म के संरक्षण और विकास की अपेक्षा गृहस्थ वर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सम्पूर्ण भारत में एक प्रतिशत जनसंख्या वाला यह समाज सेवा और प्राणी-सेवा के क्षेत्र में आज भी अग्रणी स्थान रखता है। देश में जनता के द्वारा संचालित जनकल्याणकारी संस्थाओं अर्थात् विद्यालय, महाविद्यालय, चिकित्सालय, गौशालाएं, पांजरापोल, अल्पमूल्य की भोजनशालाओं आदि की परिगणना करें तो यह स्पष्ट है कि देश में लगभग ३० प्रतिशत लोकसेवी संस्थाएँ जैन समाज के द्वारा संचालित हैं । एक प्रतिशत की जनसंख्या वाला समाज यदि ३० प्रतिशत की भागीदारी देता है तो उसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। एक दृष्टि से देखें तो महावीर के युग से लेकर आज तक जैन धर्म, जैन समाज और जैन संस्कृति के संरक्षण का महत्त्वपूर्ण दायित्व श्रावक वर्ग ने ही निभाया है, चाहे उसे प्रेरणा और दिशाबोध श्रमणों से प्राप्त हुआ हो। इस प्रकार सामान्य दृष्टि से देखने पर महावीर के युग और आज के युग में कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता।

किन्तु जहाँ चारित्रिक निष्ठा के साथ सदाचारपूर्वक नैतिक आचार का प्रश्न है, आज स्थिति कुछ बदली हुई प्रतीत होती है। महावीर के युग में गृहस्थ साधकों के धनबल और सत्ताबल की अपेक्षा चारित्रबल को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। स्वयं भगवान महावीर ने मगध सम्राट श्रेणिक को पुनियां श्रावक के पास भेजकर धनबल और सत्ताबल पर चारित्रबल की महत्ता का आदर्श उपस्थित किया था। साधना के क्षेत्र में धनबल और सत्ताबल की अपेक्षा चारित्र बल प्रधान है। अपने प्रधान शिष्य और १४,००० निर्ग्रंथ भिक्षुओं के अग्रणी आर्य इन्द्रभूति गौतम को समाधिमरण की साधना में रत आनन्द श्रावक के पास क्षमा याचना के लिए भेजकर महावीर ने जहां एक ओर गृहस्थ के चारित्र बल की महत्ता को प्रतिपादित किया था, वहीं श्रावक के जीवन की गरिमा को भी स्थापित किया था। वर्तमान संघीय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्यवस्था में गृहस्थ वर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान तो स्वीकार किया जाता है, किन्तु इन बदली हुई परिस्थितियों में चारित्र बल की अपेक्षा गृहस्थ का धन बल और सत्ताबल ही प्रमुख बन गया है। समाज में न तो आज चारित्रवान श्रावक साधकों और न ही विद्वत् वर्ग का ही कोई महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज जैन धर्म की सभी शाखाओं में समाज पर, समाज पर ही क्या कहें, मुनिवर्ग पर भी धनबल और सत्ताबल का प्राधान्य है। महावीर के युग में और मध्यकाल में भी उन्हीं श्रावकों का समाज पर वर्चस्व था, जो संघीय हित के लिए तन-मन-धन से समर्पित होते थे। फिर वे चाहे सम्पत्तिशाली हों या आर्थिक अपेक्षा से निर्धन क्यों न हों। आज हम यह देखते हैं कि समाज के शीर्ष स्थानों पर वे ही लोग बैठे हुए हैं, जिनकी चारित्रिक निष्ठा पर अनेक प्रश्नचिन्ह लगे हुए हैं।

सामान्यतया आज यह समझा जाता है कि मुनिजीवन की साधना गृहस्थ जीवन की साधना की अपेक्षा अधिक दुःसाध्य है किन्तु मेरा ऐसा मानना है कि साधना के क्षेत्र में श्रेष्ठता का आधार मुनिवेश या गृहस्थ वेश नहीं है। जैन धर्म की सम्पूर्ण साधना का हार्द ममत्व का त्याग कर समता या वीतरागता की साधना है। वह इन्द्रियों की विषय-वासना की माँग पर संयम के विजय की साधना है। संन्यास मार्ग की साधना कठोर होते हुए सुसाध्य है, जबकि गृहस्थ धर्म की साधना सुसाध्य प्रतीत होते हुए भी दुःसाध्य है। चित्त विचलन के जो अवसर गृहस्थ जीवन में रहे हुए हैं, उनकी अपेक्षा मुनि जीवन में वे अत्यंत अल्प हैं। गिरिकंदराओं में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन उतना कठिन नहीं है जितना नारियों के मध्य रहकर उसका पालन करना है। क्या विजय सेठ और सेठानी के अथवा कोशा वैश्या के घर में चातुर्मास में स्थित स्थूलिभद्र के कठोर ब्रह्मचर्य की साधना की तुलना किसी अन्य मुनि के ब्रह्मचर्य की साधना से की जा सकती है? गृहस्थ धर्म से आध्यात्मिक विकास की ओर जानेवाला मार्ग फिसलन भरा है, उसमें कदम-कदम पर सजगता की आवश्यकता है, साधक यदि एक क्षण के लिए भी वासनाओं के आवेग से नहीं संभला तो उसका पतन हो सकता है। वासनाओं के बवंडर के मध्य रहते हुए उनसे अप्रभावित रहना सरल नहीं है। गृहस्थ जीवन में आध्यात्मिक साधना काजल की कोठरी में रहकर भी चारित्र रूपी चादर को बेदाग रखना है। मेरे यह सब कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि मैं मुनि जीवन की महत्ता और गरिमा को नकार रहा हूँ। एक मुनि जिन आध्यात्मिक उचाईयों को छूता है, यदि कोई गृहस्थ जीवन में रहकर भी उन उचाईयों को छू ले तो वह अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। वैसे तो हर युग के अन्दर इस प्रकार के गृहस्थ साधक रहे हैं, जिन्होंने अपनी चारित्रिक साधना के उच्चतम आदर्श उपस्थित किए हैं। वर्तमान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

युग में भी ऐसे कुछ साधक हुए हैं जिनका चारित्र बल किसी अपेक्षा से सामान्य मुनियों से भी श्रेष्ठ रहा है। फिर भी यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो ऐसा लगता है कि महावीर के युग की अपेक्षा आज इस प्रकार के आत्मनिष्ठ गृहस्थ साधकों की संख्या में कमी आयी है। यदि हम महावीर के युग की बात करते हैं तो वह बहुत पुरानी हो गई। यदि निकटभूत अर्थात् उन्नीसवीं शती की बात को ही लें तो ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काल के जो समाज-आधारित आपराधिक आंकड़े हमें उपलब्ध होते हैं, यदि उनका विश्लेषण किया जाए तो स्पष्ट लगता है कि उस युग में जैनों में आपराधिक प्रवृत्ति का प्रतिशत लगभग शून्य था। यदि हम आज की स्थिति देखें तो छोटे-मोटे अपराधों की बात तो एक ओर रख दें, देश के महाअपराधों की सूची पर दृष्टि डालें तो चाहे घी में चर्बी मिलाने का काण्ड हो, चाहे अलकबीर के कत्लखाने में तथाकथित जैन भागीदारी का प्रश्न हो अथवा बड़े-बड़े हवाला जैसे आर्थिक घोटाले हों, हमारी साख कहीं न कहीं गिरी है। एक शताब्दी पूर्व तक सामान्य जनधारणा यह थी कि आपराधिक प्रवृत्तियों का जैन समाज से कोई नाता रिश्ता नहीं है, लेकिन आज की स्थिति यह है कि आपराधिक प्रवृत्तियों के सरगनाओं में जैन समाज के लोगों के नाम आने लगे हैं। इससे ऐसा लगता है कि वर्तमान युग में हमारी ईमानदारी और प्रामाणिकता पर अनेक प्रश्न चिन्ह लग चुके हैं? तब की अपेक्षा अब अणुव्रतों के पालन की आवश्यकता अधिक है।

एक युग था जब श्रावक से तात्पर्य था - व्रती श्रावक। तीर्थंकरों के युग में जो हमें श्रावकों की संख्या उपलब्ध होती है वह संख्या श्रद्धाशील श्रावकों की संख्या नहीं, बल्कि व्रती श्रावकों की है। किन्तु आज स्थिति बिल्कुल बदलती हुई नजर आती है, यदि आज हम श्रावक का तात्पर्य ईमानदारी एवं निष्ठापूर्वक श्रावक व्रतों के पालन करने वालों से लें, तो हम यह पाएँगे कि उनकी संख्या हमारे श्रमण और श्रमणी वर्ग की अपेक्षा कम ही होगी। यद्यपि यहाँ कोई कह सकता है कि व्रत ग्रहण करने वालों के आँकड़े तो कहीं अधिक हैं, किन्तु मेरा तात्पर्य मात्र व्रत ग्रहण करने से नहीं, किन्तु उसका परिपालन कितनी ईमानदारी और निष्ठा से हो रहा है, इस मुख्य वस्तु से है। महावीर ने गृहस्थ वर्ग को श्रमणसंघ के प्रहरी के रूप में उद्घोषित किया था। उसे श्रमण के माता-पिता के रूप में स्थापित किया गया था। यदि हम सुदूर अतीत में न जाकर केवल अपने निकट अतीत को ही देखें तो यह स्पष्ट है कि आज गृहस्थ न केवल अपने कर्तव्यों और दायित्वों को भूल बैठा है बल्कि वह अपनी अस्मिता को भी खो बैठा है। आज यह समझा जाने लगा है कि धर्म और संस्कृति का संरक्षण तथा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आध्यात्मिक साधना सब कुछ श्रमण संस्था का कार्य है, गृहस्थ तो मात्र उपासक है। उसके कर्तव्यों की इति श्री साधु, साध्वियों को दान देने अथवा उनके द्वारा निर्देशित संस्था को दान देने तक सीमित है। आज हमें इस बात का एहसास करना होगा कि जैन धर्म की संघ व्यवस्था में हमारा क्या और कितना गरिमामय स्थान है । चर्तुविध संघ के चार पायों में यदि एक भी पाया चरमराता या टूटता है तो दूसरे का अस्तित्व भी निरापद नहीं रह सकता है। यदि श्रावक अपने दायित्व और कर्तव्य को विस्मृत करता है तो संघ के अन्य घटकों का अस्तित्व भी निरापद नहीं रह सकता। चाहे यह बात कहने में कठोर हो लेकिन यह एक स्पष्ट सत्य है कि आज का हमारा श्रमण और श्रमणी वर्ग शिथिलाचार में आकण्ठ डूबता जा रहा है। यहाँ मैं किसी सम्प्रदाय विशेष की बात नहीं कर रहा हूँ और न मेरा यह आक्षेप उन पूज्य मुनिवृन्दों के प्रति है जो निष्ठापूर्वक अपने चारित्र का पालन करते हैं, यहाँ मेरा इशारा एक सामान्य स्थिति से है।

अन्य वर्गों की अपेक्षा जैन श्रमण संस्था एक आदर्श प्रतीत होती है, फिर भी यदि हम उसके अंतस्थल में झांककर देखते हैं तो कहीं न कहीं हमें हमारी आदर्श और निष्ठा को ठेस अवश्य लगती है। आज जिन्हें हम आदर्श और वन्दनीय मान रहे हैं उनके जीवन में छल-छद्म, दुराग्रह और अहम् के पोषण की प्रवृत्तियाँ तथा वासना-जीवन के प्रति ललक को देखकर मन पीड़ा से भर उठता है। किन्तु उनके इस पतन का उत्तरदायी कौन है, क्या वे स्वंय ही हैं? वास्तविकता यह है कि उनके इस पतन का उत्तदायित्व हमारे श्रावक वर्ग पर भी है, या तो हमनें उन्हें इस पतन के मार्ग की ओर अग्रसर किया है या कम से कम उनके सहयोगी बने हैं। साधु-साध्वियों में शिथिलाचार, संस्थाओं के निर्माण की प्रतिस्पर्धा और मठवासी प्रवृत्तियाँ आज जिस तेजी से बढ़ रही हैं, वह मध्यकालीन चैत्यवासी और भट्टारक परम्परा, जिसकी हम आलोचना करते नहीं अघाते, उनसे भी कहीं आगे हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि साधु-साध्वियों में जो शिथिलाचार बढ़ा है वह हमारे सहयोग से ही बढ़ा है। आज श्रावक, उनमें भी विशेष रूप से सम्पन्न श्रावक, धर्म के नाम पर होने वाले बाह्य आडम्बरों में अधिक रुचि ले रहा है। आध्यात्मिक साधना के स्थान पर वह प्रदर्शनप्रिय हो रहा है। धर्म प्रभावना का नाम लेकर आज के तथाकथित श्रावक और उनके तथाकथित गुरुजन दोनों ही अपने अहम् और स्वार्थों के पोषण में लगे हैं । आज धर्म की खोज अन्तरात्मा में नहीं, भीड़ में हो रही है। हम भीड़ में रहकर अकेले रहना नहीं जानते, अपितु कहीं अपने अस्तित्व और अस्मिता को भी भीड़ में ही विसर्जित कर रहे हैं । आज वही साधु और श्रावक अधिक प्रतिष्ठित होता है जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भीड़ इकट्ठा कर सकता है, बात कठोर है किन्तु सत्य है। आज मजमा जमाने में जो जितना कुशल होता है वह उतना ही अधिक प्रतिष्ठित भी होता है।

आज सेवा की अपेक्षा सेवा का प्रदर्शन अधिक महत्त्वपूर्ण बनता जा रहा है। मैं पश्चिम के लायन्स और रोटरी क्लबों की बात नहीं करता, किन्तु आज के जैन समाज के विकसित होने वाले सोशल ग्रुप की बात करना चाहता हूँ। हम अपने हृदय पर हाथ रखकर पूछें की क्या वहाँ सेवा के स्थान पर सेवा का प्रदर्शन अधिक नहीं हो रहा है? मेरे इस आक्षेप का यह आशय नहीं है कि सोशल ग्रुप जैसी संस्थाओं का मैं आलोचक हूँ, वास्तविकता तो यह है कि यदि आज समाज, संस्कृति और धर्म को बचाएँ रखना है तो ऐसी संस्थाओं की नितान्त आवश्यकता है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि आज एक मंदिर, उपाश्रय या स्थानक कम बने और उसके स्थान पर गाँव-गाँव में जैनों के सोशल क्लब खड़े हों, किन्तु उनमें कहीं हमारे धर्म, दर्शन और संस्कृति का संरक्षण होना चाहिए। आचार की मर्यादाओं का पालन होना चाहिए। आज के युवा में जैन संस्कारों के बीजों का वपन हो और वे विकसित हों, इसलिए ऐसे सामाजिक संगठन आवश्यक हैं किन्तु यदि उनमें पश्चिम की अंधी नकल से हमारे सांस्कृतिक मूल्य और सांस्कृतिक विरासत समाप्त होते हैं, तो उनकी उपादेयता भी समाप्त हो जाएगी ।

आज के युग में संचार के साधनों में वृद्धि हुई है और यह भी आवश्यक है कि हमें इन संचार के साधनों का उपयोग भी करना चाहिए, किन्तु इन संचार के साधनों के माध्यम से कहीं जीवन-मूल्यों और आदर्शों का प्रसारण होना चाहिए न कि वैयक्तिक अहम् का पोषण। आज हमारी रुचि उन आदर्शों और मूल्यों की स्थापना में उतनी नहीं होती, जितनी अपने अहम् के सम्पोषण के लिए अपना नाम व फोटो छपा हुआ देखने में होती है। इस युग में साधनाप्रिय साधु और श्रावक तो कहीं ओझल हो गए हैं । यदि उनका जीवन और चारित्रिक मूल्य आगे आए तो उनसे हमारे जीवन मूल्यों का संरक्षण होगा, अन्यथा केवल प्रदर्शन और अपने अहम् की पुष्टि में हमारी अस्मिता ही समाप्त हो जाएगी। आज न केवल नेताओं के बड़े-बड़े होर्डिंग्स लग रहे हैं, अपितु हमारे साधुओं के भी होर्डिंग्स लग गए हैं । संचार साधनों की सुविधाओं के इस युग में महत्त्व मूल्य और आदर्शों को दिया जाना चाहिए न कि व्यक्तियों को, क्योंकि उसके निमित्त से आज साधु समाज में एक प्रतिस्पर्धा की भावना भी जन्मी है और उसके परिणामस्वरूप संघ और समाज के धन का कितना अपव्यय हो रहा है यह किसी से छिपा नहीं है, यह धन भी साधुवर्ग के पास नहीं है, गृहस्थ वर्ग के पास से ही आता है। आज पूजा, प्रतिष्ठा, दीक्षा, चातुर्मास, आराधना और उपासना की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो पत्रिकाएँ छप रही हैं उनकी स्थिति यह है कि एक-एक पत्रिका की सम्पूर्ण लागत लाखों में होती है, क्या यह धन सत् साहित्य या प्राचीन ग्रंथों, जो भण्डारों में दीमकों के भक्ष्य बन रहे हैं, के प्रकाशन में उपयोगी नहीं बन सकता है ? मैं यह सब जो कह रहा हूँ उसका कारण साधक वर्ग के प्रति मेरे समादार भाव में कमी है ऐसा नहीं है, किन्तु उस यथार्थता को देखकर मन में जो पीड़ा और व्यथा है, यह उसी का प्रतिफल है। बाल्यकाल से लेकर जीवन की इस ढलती उम्र तक मैंने जो कुछ अनुभव किया है, मैं उसी की बात कह रहा हूँ। मेरे कहने का यह भी तात्पर्य नहीं है कि समाज पूरी तरह मूल्यविहीन हो गया है। आज भी कुछ मुनि एवं श्रावक हैं जिनकी चारित्रिक निष्ठा और साधना को देखकर उनके प्रति श्रद्धा और आदर का भाव प्रकट होता है, किन्तु सामान्य स्थिति यही है। आज हमारे जीवन में और विशेष रूप से हमारे पूज्य मुनि वर्ग के जीवन में जो दोहरापन यथार्थ या विवशता बनता जा रहा है, उस सबके लिए हम ही अधिक उत्तरदायी हैं ।

आज हमें अपने आदर्श अतीत को देखना होगा, अपने पूर्वजों की चारित्र निष्ठा और मूल्य निष्ठा को समझना होगा। मात्र समझना ही नहीं, उसे जीना होगा, तभी हम अपनी अस्मिता की और अपने प्राचीन गौरव की रक्षा कर सकेंगे। आज पुनियां का आदर्श, आनन्द की चारित्र निष्ठा, भामाशाह का त्याग, तेजपाल और वस्तुपाल की धर्मप्रभावना सभी मात्र इतिहास की वस्तु बन गये हैं । तारण स्वामी, लोकाशाह, बनारसीदास आदि के धर्म क्रान्ति के शंखनाद की ध्वनि हमें सुनाई नहीं देती है यह हमारी वर्तमान दुर्दशा का कारण है, हम कब सजग और सावधान होंगे? यह चिन्तनीय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर का जन्म स्थल एक पुनर्विचार

जैन धर्म में चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर को एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में निर्विवाद रूप से मान्यता प्राप्त हो चुकी है। फिर भी दुर्भाग्य का विषय यह है कि न केवल उनके जन्म एवं निर्वाण काल के सम्बन्ध में अपितु उनके जन्मस्थान, कैवल्यज्ञानस्थल और निर्वाणस्थल को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार की मान्यताएं प्रचलित हैं। मात्र यही नहीं इन मान्यताओं के पोषण के निमित्त भी परम्पराओं के घेरे में आबद्ध होकर येन-केन-प्रकारेण अपने पक्षों को सिद्ध करने के लिये प्रयत्न और पुरुषार्थ भी किया जा रहा है। विगत ५० वर्षों में इन सब समस्याओं को लेकर विभिन्न पुस्तिकाएँ और लेख आदि भी लिखे गये हैं । यह कैसा दुर्भाग्य है कि भगवान महावीर के समकालीन भगवान बुद्ध के जन्मस्थल, निर्वाणस्थल, ज्ञानप्राप्तिस्थल और धर्मचक्रप्रवर्तनस्थल को लेकर सम्पूर्ण बौद्ध समाज एकमत है और उन ऐतिहासिक स्थलों के विकास के लिए प्राणपन से जुटा हुआ है, जबकि जैन समाज आज अपने क्षुद्र स्वार्थों अथवा अहंकारों के पोषण के लिये इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं बना सका। भगवान महावीर के जन्म स्थल को लेकर वर्तमान में तीन मान्यताएं प्रचलित हैं -

(१) अधिकांश विद्वज्जन एवं इतिहासवेत्ता तथा केन्द्रशासन वैशाली के निकट कुण्डग्राम को उनका जन्म स्थान मानते हैं ।

(२) दिगम्बर परम्परा राजगृह और नालन्दा के निकटवर्ती बड़गांव या तथाकथित कुण्डलपुर को महावीर का जन्मस्थल मानती है।

(३) श्वेताम्बर परम्परा बिहार में जमुही के निकट लछवाड़ को महावीर का जन्म स्थान मान रही है।

इसप्रकार महावीर के जन्मस्थल को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में मतैक्य नहीं है। दुर्भाग्य यह है कि इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक और सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टि से विचार करने का कोई प्रयत्न ही नहीं किया गया। यद्यपि इस सम्बन्ध में विद्वत् वर्ग एवं इतिहासविदों ने कुछ लेख आदि लिखे हैं, किन्तु पारम्परिक आग्रहों के चलते उनकी आवाज सुनी नहीं गई।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वेताम्बर और दिगम्बर पक्षों की ओर से भी महावीर के जन्म स्थल को लेकर कुछ लेख एवं पुस्तिकाओं का प्रकाशन भी हुआ है और उनमें अपने-अपने पक्षों के समर्थन में कुछ प्रमाण भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है, किन्तु सामान्यतया जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं वे सभी परवर्तीकालीन ही हैं। प्राचीनतम साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक प्रमाणों को जानने का ही प्रयत्न नहीं किया गया या अपने पक्ष के विरोध में लगने के कारण उनकी उपेक्षा कर दी गई। भगवान महावीर के सम्बन्ध में जो प्राचीनतम प्रमाण उपलब्ध हैं उनमें आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध लगभग (ई.पू. ५वीं शताब्दी), आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध लगभग (ई.पू. प्रथम-द्वितीय शताब्दी), सूत्रकृतांग (ई.पू. दूसरी-तीसरी शताब्दी), कल्पसूत्र (ई.पू. लगभग दूसरी शताब्दी) हैं। कल्पसूत्र में महावीर के विशेषणों की चर्चा उपलब्ध हैं। उसमें उन्हें ज्ञातृ, ज्ञातृपुत्र, ज्ञातृकुलचंद, विदेह, विदेहदिन्ने अर्थात् विदेहदिन्ना के पुत्र, विदेहजात्य, विदेहसुकुमार आदि विशेषणों से संबोधित किया गया है।[१] ज्ञातव्य है कि यही सब विशेषण आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पन्द्रहवें अध्याय में भी उपलब्ध हैं (देखें - आचारांगसूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध-मुनि आत्मारामजी - लुधियाना पृ. १३७३)। **इन विशेषणों में भी विदेहजात्य विशेषण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि एक बार इस विशेषण का अर्थ वैदेही या वैदेही का** पुत्र मानकर यह मान लिया जाय कि ये विशेषण उन्हें उनके मातृपक्ष के कारण दिये गये होंगे, तब भी विदेहजात्य विशेषण तो स्पष्ट रूप से इस तथ्य को स्थापित करता है कि महावीर का जन्म विदेह क्षेत्र में ही हुआ था, जबकि वर्तमान में मान्य नालंदा के समीप वाला कुण्डलपुर तथा लछवाड़ दोनों ही मगध क्षेत्र में आते हैं। वे किसी भी स्थिति में विदेह के अन्तर्गत नहीं माने जा सकते। अत: महावीर का जन्म स्थान यदि किसी क्षेत्र में खोजा जा सकता है तो वह विदेह का ही भाग होगा, मगध का नहीं हो सकता।

इसी प्रसंग में कल्पसूत्र में यह भी कहा गया है कि 'तीसं वासाइं विदेहंसि कट्टु' अर्थात् ३० वर्ष विदेह क्षेत्र में व्यतीत करने के पश्चात् माता-पिता के स्वर्गगमन के बाद गुरु एवं वरिष्ठजनों की अनुज्ञा प्राप्त करके उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की।[२]

महावीर का विदेहजात्य होना और फिर गृहस्थावस्था के ३० वर्ष विदेह क्षेत्र में व्यतीत करना ये दो ऐसे सबल प्रमाण हैं जिनसे उनके कुण्डलपुर (नालन्दा) और लछवाड़ में जन्म लेने एवं दीक्षित होने की अवधारणा निरस्त हो जाती है। श्री सीताराम राय ने महावीर के जन्म स्थान को लछवाड़ सिद्ध करने के लिये और वहीं से दीक्षित होकर कुछ ग्रामों में अपनी विहार यात्रा करने का संकेत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देते हुए उन ग्रामों के नामों की समरूपता को चूर्णि के आधार पर सिद्ध करने का प्रयत्न भी किया है। किन्तु उनके इस प्रयत्न की अपेक्षा जिन विद्वानों ने उनका जन्म स्थान वैशाली के निकट कुण्डग्राम बताया है और आवश्यकचूर्णि के माध्यम से उनके दीक्षित होने के पश्चात् ही विहार यात्रा के ग्रामों का समीकरण कोल्लागसन्निवेश (वर्तमान कोल्हुआ) आदि से किया है वह अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। कोल्लाग को सन्निवेश कहने का तात्पर्य यही है कि वह किसी बड़े नगर का उपनगर (कॉलोनी) था और यह बात वर्तमान में वैशाली के निकट उसकी अवस्थिति से बहुत स्पष्ट हो जाती है। कल्पूसत्र में उनके दीक्षा स्थल का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि उन्होंने ज्ञातृखण्डवन में अशोक वृक्ष के नीचे दीक्षा स्वीकार की।[3] इससे यह भी सिद्ध होता है कि ज्ञातृखण्डवन ज्ञातृवंशीय क्षत्रियों के अधिकार का वन क्षेत्र था और ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय जिनका कुल लिछवी था, वैशाली के समीप ही निवास करते थे। आज भी उस क्षेत्र में जथेरिया क्षत्रियों का निवास देखा जाता है। 'जथेरिया' शब्द मूलत: ज्ञातृ का ही अपभ्रंश रूप है, अत: यह सिद्ध होता है कि महावीर का जन्म स्थान वैशाली के निकट कुण्डपुर ही हो सकता है। वैशाली से जो एक मुहर प्राप्त हुई है उसमें वैशालीकुण्ड का ऐसा उल्लेख है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि क्षत्रिय कुण्ड, ब्राह्मण कुण्ड, कोल्लाग आदि वैशाली के ही उपनगर थे। वैशाली गणतंत्र था और इन उपनगरों के नगर प्रमुख भी राजा ही कहे जाते होंगे। अत: भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ को राजा मानने में कोई आपत्ति नहीं आती। पुन: कल्पसूत्र में उन्हें राजा न कहकर मात्र क्षत्रिय कहा गया है। भगवान महावीर का जन्म स्थान वैशाली का निकटवर्ती कुण्डग्राम ही हो सकता है, इसका एक प्रमाण यह भी है कि भगवान महावीर को सूत्रकृतांग जैसे प्राचीन आगम में (१/२/३/२२) ज्ञातृपुत्र के साथ-साथ वैशालिक भी कहा गया हैं। उनके वैशालिक कहे जाने की सार्थकता तभी हो सकती है जबकि उनका जन्म स्थल वैशाली के निकट हुआ।

कुछ लोगों का यह तर्क कि उनके मामा अथवा नाना चेटक वैशाली के अधिपति थे अथवा माता वैशालिक थीं इसलिये उन्हें वैशालिक कहा गया, समुचित नहीं है, क्योंकि मामा या नाना के गांव के निवास स्थान के आधार पर किसी व्यक्ति को तद् नाम से पुकारे जाने की परम्परा नहीं रही है । दूसरे हम यदि यह भी मान लें कि महावीर का ननिहाल वैशाली था और इसलिये वे वैशालिक कहे जाते हैं तो एक सम्भावना यह भी मानी जा सकती है कि अपने ननिहाल में जन्म होने के कारण उन्हें वैशालिक कहा गया हो। माता के पितृगृह अथवा सन्तान के ननिहाल में जन्म लेने की परम्परा तो वर्तमान में भी देखी जा सकती है। किन्तु जैसा पूर्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कहा है कि उन्होंने तीस वर्ष तक 'विदेह' में निवास करने के पश्चात् दीक्षा ग्रहण की (कल्पसूत्र ११० प्रा.भा.सं.पृ. १६०) इस आधार पर यह बात पूर्णत: निरस्त हो जाती है कि उन्हें अपने ननिहाल के कारण वैशालिक कहा जाता था।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठाया जाता है कि महावीर के पिता राजा थे। किन्तु प्रश्न यह है कि वे किस प्रकार के राजा थे - स्वतन्त्र राजा थे या गणतंत्र के राजा थे। उन्हें स्वतन्त्र राजा नहीं माना जा सकता क्योंकि कल्पसूत्र में अनेक स्थलों पर तो 'सिद्धत्थे खत्तिये' अर्थात् सिद्धार्थ क्षत्रिय ही कहा गया है।[४] राजगृह का मगध राजवंश साम्राज्यवादी था, जबकि वैशाली की परम्परा गणतंत्रात्मक थी। गणतंत्र में तो समीपवर्ती क्षेत्रों के छोटे-छोटे गांवों में स्वायत्त शासन व्यवस्था सम्भव थी, परन्तु साम्राज्यवादी राजतंत्रों में यह सम्भावना नहीं हो सकती। अत: हम नालंदा के समीपवर्ती कुण्डलपुर को अथवा लछवाड़ को महावीर का जन्मस्थान एवं पितृगृह स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि मगध का साम्राज्य इतना बड़ा था कि उसके निकटवर्ती नालंदा या लछवाड़ में स्वतंत्र राजवंश सम्भव नहीं। वैशाली गणतंत्र में उसकी महासभा में ७७०७ गणराजा थे।[५] यह उल्लेख भी त्रिपिटक साहित्य में मिलता है। अत: महावीर के पिता सिद्धार्थ को गणराजा मानने में कोई आपत्ति नहीं आती। क्षत्रियकुण्ड के वैशाली के समीप होने से या उसका अंगीभूत होने से महावीर को वैशालिक कहा जाना तो सम्भव हो सकता है। यदि महावीर का जन्म नालन्दा के समीप तथाकथित कुण्डलपुर में हुआ होता तो उन्हें या तो नालंदीय या राजगृहिक ऐसा विशेषण मिलता, वैशालिक नहीं। जहां तक साहित्यिक प्रमाणों का प्रश्न है गणनी ज्ञानमती माताजी एवं प्रज्ञाश्रमणी चंदनामतीजी ने नालंदा के समीपवर्ती तथाकथित कुण्डलपुर को महावीर की जन्मभूमि सिद्ध करने के लिये पुराणों और दिगम्बरमान्य आगम ग्रन्थों से कुछ सन्दर्भ दिये हैं। राजमलजी जैन ने इसके प्रतिपक्ष में 'महावीर की जन्मभूमि कुण्डपुर' नाम पुस्तिका लिखी और उन प्रमाणों की समीक्षा भी की है। हम उस विवाद में उलझना तो नहीं चाहते, किन्तु एक बात स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि दिगम्बर परम्परा के आगम तुल्य ग्रन्थ कषायपाहुड़, षट्खण्डागम आदि के जो प्रमाण इन विद्वानों ने दिये हैं, उन्हें यह ज्ञात होना चाहिये कि इन दोनों ग्रन्थों के मूल में कहीं भी महावीर के जन्मस्थान आदि के सन्दर्भ में कोई उल्लेख नहीं है। जो समस्त उल्लेख प्रस्तुत किये जा रहे हैं वे उनकी जयधवला और धवला टीकाओं से है, जो लगभग ९वीं-१०वीं शताब्दी की रचनाएं हैं। इसी प्रकार जिन पुराणों से सन्दर्भ प्रस्तुत किये जा रहे हैं वे भी लगभग ९वीं शताब्दी से लेकर १६वीं शताब्दी के मध्य रचित हैं। अत: ये सभी प्रमाण चूर्णि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साहित्य से भी परवर्ती ही सिद्ध होते हैं। अत: उन्हें ठोस प्रमाणों के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता । वे केवल सहायक प्रमाण ही कहे जा सकते हैं। इस सन्दर्भ में श्री राजमलजी जैन ने सिद्ध किया है कि इन प्रमाणों में भी एक दो अपवादों को छोड़कर सामान्यतया कुण्डपुर का ही उल्लेख हैं। कुण्डलपुर के उल्लेख तो विरल ही हैं और जो हैं वे भी मुख्यतया परवर्ती ग्रन्थों के ही हैं। यहां हमें यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि जब क्रमश: महावीर के जीवन के साथ चमत्कारिक घटनाएं जुड़ती गईं, तो अहोभाव के कारण क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड को भी नगर या पुर कहा जाने लगा। कल्पसूत्र (पृष्ठ ४४) में भी क्षत्रियकुण्डग्राम और ब्राह्मणकुण्डग्राम का ही उल्लेख है। यहां इन्हें जो 'खत्तीयकुण्डगामेनयरे' कहा गया है उसमें 'ग्राम-नगर' शब्द से यही भाव अभिव्यक्त होता है कि ये दोनों मूलत: तो ग्राम ही थे किन्तु वैशाली नगर के निकटवर्ती होने के कारण इन्हें ग्राम-नगर संज्ञा प्राप्त हो गई थी। वर्तमान में भी किसी बड़े नगर के विस्तार होने पर उसमें समाहित गांव नगर नाम को प्राप्त हो जाते हैं। वस्तुत: क्षत्रियकुण्ड ही महावीर की जन्मभूमि प्रतीत होती है और यह वैशाली का ही एक उपनगर सिद्ध होता हैं। ज्ञातव्य है कि वैशाली का मूल नाम विशाला था। विशाल नगर होने के कारण ही इसका नाम वैशाली पड़ा था। पुरातात्त्विक साक्ष्यों की दृष्टि से वैशाली, नालंदा और लछवाड़ (जो जमुई के निकट हैं) की प्राचीनता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता। किन्तु प्राचीन साहित्य में नालंदा के समीप किसी कुण्डपुर या कुण्डलपुर का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। वर्तमान लछवाड़, जमुई के निकट है और जमुई के सम्बन्ध में साहित्यिक और पुरातात्त्विक दोनों ही प्रमाण उपलब्ध हैं। कल्पसूत्र में भगवान महावीरस्वामी के केवलज्ञान स्थान का जो उल्लेख मिलता है उसमें यह कहा गया है कि "जंभीयगामस्स अर्थात् जृम्भिक ग्राम के पास ऋजुवालिका नदी के किनारे वैय्यावृत्त चैत्य के न अधिक दूर न अधिक समीप शामक गाथापति के काष्टकरण में शालवृक्ष के नीचे गौदोहिक आसान में उकडूँ बैठे हुए आतापना लेते हुए षष्टभक्त उपवास से युक्त हस्तोत्तरा नक्षत्र का योग होने पर वैशाख शुक्ला दशमी को अपराह्न में भगवान महावीर को केवलज्ञान हुआ था।"[६]

इससे वर्तमान लछवाड़ की, विशेष रूप से जृम्भिक ग्राम की प्राचीनता तो सिद्ध हो जाती है किन्तु यह महावीर का जन्मस्थल है यह बात सिद्ध नहीं होती। प्राचीन जो भी उल्लेख हैं वे मूलत: क्षत्रियकुण्ड से सम्बन्धित हैं । वैशाली के समीप वासोकुण्ड को महावीर का जन्मस्थल मानने के सम्बन्ध में केन्द्रीय शासन और इतिहासज्ञ वर्ग ने जो निर्णय लिया है, वह समुचित प्रतीत होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका एक प्रमाण यह भी है कि वैशाली से प्राप्त एक मुद्रा पर 'वैशालीनामकुण्डे' ऐसा स्पष्ट लिखा हुआ है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि वैशाली के निकट कोई कुण्डग्राम रहा होगा और यही कुण्डग्राम क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड - ऐसे दो विभागों में विभाजित रहा होगा। अत: भगवान महावीर के जन्म स्थान को वैशाली के निकटवर्ती वासोकुण्ड को ही क्षत्रियकुण्ड मानना चाहिये। इस सम्बन्ध में एक परम्परागत अनुश्रुति यह भी है कि वासोकुण्ड के उस स्थल जिसे महावीर का जन्म स्थान माना गया है आज तक हल नहीं चलाया गया है और वहां के निवासी शासकीय एवं विद्वानों के निर्णय के पूर्व भी उस स्थान को महावीर की जन्मभूमि के रूप में उल्लेखित करते रहे हैं। जहां तक नालंदा के समीपवर्ती कुण्डलपुर का प्रश्न है उसे तो महावीर का जन्मस्थल नहीं माना जा सकता, क्योंकि महावीर जब-जब भी राजगृही आते थे तब-तब वर्षावास के लिये नालंदा को ही प्रमुखता देते थे। अत: यह तो स्वभाविक है कि नालंदा के साथ महावीर की स्मृतियां जुड़ी रही हों किन्तु उसे उनकी जन्मभूमि स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि न तो वहाँ ज्ञातृवंशीय क्षत्रियों का आवास ही था और न मगध जैसे साम्राज्य की राजधानी के एक उपनगर में किसी अन्य राजा का राज्य होने की सम्भावना थी। जमुई के निकटवर्ती लछवाड़ को लछवाड़ नाम कब मिला यह गवेषणा का विषय है। जमुई की प्राचीनता तो निर्विवाद है और उसका सम्बन्ध भी महावीर के केवल ज्ञान स्थल का निकटवर्ती होने से महावीर के साथ जुड़ा हुआ है। किन्तु उसे महावीर का जन्मस्थान न मानकर आगमिक प्रमाणों के आधार पर केवलज्ञान स्थल ही माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा महावीर की कैवल्यभूमि के प्रसंग में करेंगे।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के ग्रन्थों में क्षत्रियकुण्ड या कुण्डपुर की अवस्थिति विदेह क्षेत्र में बताई गई है। इस तथ्य की पुष्टि दिगम्बर परम्परा के कुछ ग्रन्थों के सन्दर्भ श्री राजमलजी जैन ने प्रस्तुत किये हैं। पूज्यपाद देवनन्दी की निर्वाणभक्ति में यह उल्लेख किया है कि सिद्धार्थराजा के पुत्र ने भारत देश के विदेह कुण्डपुर में देवी प्रियकारिणी को सुखद स्वप्न दिखाए और चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को उसने उन्हें जन्म दिया। इसी प्रकार आचार्य जिनसेन ने (नवीं शती) हरिवंश पुराण में भारत देश के विदेह क्षेत्र के कुण्डपुर में महावीर के जन्म का उल्लेख किया है। इसी क्रम में उत्तरपुराण के रचयिता गुणभद्र ने (विक्रम की दसवीं शताब्दी) महावीर के जन्म स्थान कुण्डपुर को भारत के विदेह क्षेत्र में अवस्थित बताया हैं। इसी पुराण के ७५वें सर्ग में भी 'विदेहविषयेकुण्डसंज्ञायां' पुरी के रूप में उल्लेखित किया गया है। आचार्य पुष्पदंत ने वीरजिनंदचरिउ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी) में 'वैशाली कुण्डपुरे' ऐसा उल्लेख किया है। इससे भी ऐसा लगता है कि महावीर की जन्मस्थली कुण्डपुरी वैशाली के निकट ही रही। दामनन्दी ने (१०वीं-११वीं शताब्दी) महावीर के जन्म स्थान कुण्डपुर को विदेह में स्थित बताया है। इसी तथ्य को असग (ग्यारहवीं शताब्दी) ने वर्धमान चरित्र में पुष्ट किया है। वे भी महावीर की जन्मस्थली कुण्डपुर की अवस्थिति विदेह क्षेत्र में बताते हैं। श्रीधर रचित वड्ढमानचरिउ (लगभग बारहवी शती) में भी कुण्डपुर को विदेह क्षेत्र में माना गया हैं। सकलकीर्ति ने वर्धमानचरित्र में कुण्डपुर को विदेह क्षेत्र में अवस्थित माना है। पुन: मुनि धर्मचन्द ने गौतमचरित्र (१७वीं शताब्दी) में कुण्डपुर को भरतक्षेत्र में विदेह प्रदेश के अन्तर्गत स्वीकार किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लगभग ईसा की ५वीं शताब्दी से लेकर १७वीं शताब्दी तक दिगम्बर आचार्य एवं भट्टारक कुण्डपुर को विदेह क्षेत्र में अवस्थित ही मान रहे हैं। यहां हमने केवल उन्हीं सन्दर्भों को उल्लेखित किया है, जिनमें कुण्डपुर को स्पष्ट रूप से विदेहक्षेत्र में अवस्थित बताया गया है। महावीर के जन्मस्थल कुण्डपुर होने के तो अन्य भी कई सन्दर्भ हैं, जिनकी चर्चा श्री राजमल जैन ने की है। वस्तुत: महावीर का जन्मस्थल विदेहक्षेत्र में स्थित वैशाली का निकटवर्ती कुण्डपुर नामक उपनगर ही रहा है।

परवर्ती साहित्य में कहीं-कहीं कुण्डपुर के कुछ उल्लेख मिलते हैं जिनकी स्पष्ट समीक्षा श्री राजमलजैन ने की है। हम यहां कुण्डपुर और कुण्डलपुर के विवाद में नहीं पड़ना चाहते । श्वेताम्बर सन्दर्भ तो मूलत: कुण्डग्राम के ही हैं, और उसमें भी स्पष्ट रूप से क्षत्रियकुण्ड के हैं। श्वेताम्बर परम्परा में १४वीं शताब्दी में आचार्य जिनप्रभसूरि ने विविधतीर्थकल्प की रचना की थी। उन्होंने भी महावीर का जन्मस्थल कुण्डग्राम ही उल्लेखित किया है। श्री राजमलजी जैन ने अपनी पुस्तक 'महावीर की जन्म भूमि कुण्डपुर' में जो यह उल्लेख किया है कि कुण्डपुर ही १३वीं शताब्दी तक कुण्डग्राम हो गया होगा, एक भ्रान्ति है। हम पूर्व में उल्लेख कर आये हैं कि कल्पसूत्र आदि में स्पष्ट रूप से 'कुण्डग्राम' का ही उल्लेख है, कुण्डपुर का नहीं। हॉ इतना अवश्य है कि आगमों में 'कुण्डपुरग्रामनगर' ऐसा उल्लेख भी मिलता है। मेरी दृष्टि में ग्राम - नगर ऐसा समासपद ग्रहण करने पर इसका अर्थ होगा नगर का समीपवर्ती गांव या वह गांव जो कालान्तर में किसी नगर का भाग या उपनगर बन गया हो।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गणनी ज्ञानमती माताजी ने भी कुण्डलपुर का पक्ष लेते हुए उसे विदेह में स्थित माना है। अब यह प्रश्न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उठता है कि क्या दिगम्बर परम्परा के द्वारा मान्य नालंदा के समीप स्थित कुण्डलपुर अथवा श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य जमुई के निकटवर्ती लछवाड़ को विदेह क्षेत्र में स्थित माना जा सकता है? प्राचीन भारत के भूगोल का अध्ययन करने पर यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि वर्तमान कुण्डलपुर और लछवाड़ दोनों ही मगध क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। वे किसी भी स्थिति में विदेह क्षेत्र में स्थित नहीं माने जा सकते। क्योंकि प्राचीन भारतीय भूगोल के अनुसार विदेह-क्षेत्र की जो सीमा निर्धारित थी उसमें उसकी पश्चिमी सीमा गण्डकी नदी (वर्तमान धाधरा) और पूर्वी सीमा कोशिकी नदी की थी। दक्षिण में विदेह क्षेत्र की सीमा का निर्धारण गंगा नदी और उत्तर में हिमालय पर्वत निर्धारित करता था। यदि महावीर के जन्म स्थान की खोज कहीं करनी होगी तो इस विदेह क्षेत्र की सीमा में ही करनी होगी और यह सत्य है कि नालन्दा समीपस्थ कुण्डलपुर जमुई के समीप स्थित लछवाड़ दोनों ही विदेह क्षेत्र की सीमा के बाहर हैं और मगध क्षेत्र की सीमा के अन्तर्गत आते हैं। अत: साहित्यिक प्रमाण स्पष्ट रूप से वैशाली के निकट वर्तमान वासुकुण्ड के पक्ष में ही जाते हैं। पुरातात्त्विक दृष्टि से नालन्दा, जमुई और वैशाली तीनों ही अपना अस्तित्व ई.पू. ६वीं शताब्दी में रखते हैं। यह भी सत्य है कि भगवान महावीर जब भी राजगृही आये और वहां वर्षावास का निश्चय किया तो उन्होंने अपना चातुर्मास स्थल नालन्दा को ही चुना। पुरातात्त्विक साक्ष्यों से यह भी सिद्ध है कि महावीर के काल में नालन्दा राजगृही का एक उपनगर या सन्निवेश माना जाता था। वर्तमान में जो बड़गांव कुण्डलपुर में दिगम्बर और श्वेताम्बर मंदिर हैं उनमें स्थित प्रतिमाएं सोलहवीं शताब्दी के पूर्व की नहीं हैं। नालन्दा की प्राचीनता के सम्बन्ध में जो पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध होते हैं वे अधिकांश बौद्ध परम्परा से ही सम्बद्ध हैं। जैन परम्परा से सम्बद्ध अभी तक कोई भी ऐसा पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है जो महावीर के जन्मस्थल पर स्थित किसी प्राचीन मंदिर आदि की अवस्थिति को सिद्ध करे। इसी प्रकार जमुई के निकट स्थित लछवाड़ में प्राचीन अवशेष उपलब्ध होते हैं। लेखक स्वयं जिस समय लछवाड़ गया था उस समय वहां नये मंदिर के निर्माण के लिये प्राचीन मंदिर को गिरा दिया गया था। यद्यपि जिस मंदिर को गिराया गया था, वह अतिप्राचीन नहीं था, किन्तु उसके नीचे जो चबूतरा था उस चबूतरे में तथा उस चबूतरे को खोदने पर निकली सामग्री में लेखक को कुछ प्राचीन ईंटों के खण्ड उपलब्ध हुए थे जो कम से कम मौर्य काल के पश्चात् के और गुप्ता काल के पूर्व के थे। मंदिर में जो मूलनायक महावीर स्वामी की प्रतिमा थी, वह स्पष्ट रूप से पालकालीन अर्थात् ९-१०वीं शताब्दी की थी। इससे यह तो निश्चित होता है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लछवाड़ में महावीर की स्मृति में ही प्राचीनकाल में कोई मंदिर अवश्य बना था, किन्तु यह महावीर का जन्मस्थल था यह स्वीकार करने में अनेक बाधाएं हैं। इस सम्बन्ध में डॉ. सीताराम राय का एक लेख 'श्रमण' अगस्त १९८९ में प्रकाशित हुआ था। उन्होंने लछवाड़ को महावीर का जन्म स्थान स्वीकार किये जाने के सन्दर्भ में एक तर्क यह दिया है कि कल्पसूत्र का कुण्डग्राम पहाड़ी क्षेत्र में अवस्थित था जबकि वैशाली के पास वसुकुण्ड में पहाड़ों का नामो-निशान नहीं है। किन्तु लेखक ने यह निर्णय कैसे ले लिया कि कल्पसूत्र में कुण्डग्राम को पहाड़ी क्षेत्र में अवस्थित बताया गया हैं, समझ से परे है। कल्पसूत्र में एवं आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में महावीर के जन्म स्थल का पहाड़ी क्षेत्र में अवस्थित होना कहीं भी उल्लिखित नहीं हैं। इसी प्रकार प्रस्तुत लेखक ने यह भी लिखा है कि महावीर के गृहस्थ जीवन के परित्याग के अवसर पर कुण्डग्राम का परित्याग कर उससे उत्तर-पश्चिम की ओर पहाड़ की ओर ज्ञातृखण्ड वन पहुँचने का वर्णन मिलता है, किन्तु यहां भी पहाड़ की कल्पना लेखक की स्वैर कल्पना है। आचारांग, कल्पसूत्र यहां तक की आवश्यकचूर्णि में भी जहां ज्ञातृय वनखण्ड का उल्लेख है, वहां भी कहीं पहाड़ आदि होने का उल्लेख नहीं है।

सीताराम राय ने जमुई अनुमण्डल के लछवाड़ को जो महावीर का जन्म स्थल मानने का प्रयत्न किया है और उसकी पुष्टि में आवश्यकचूर्णि में उल्लिखित उनकी विहारयात्रा के कुछ गांव यथा - कुमार, कोल्लाग, मोरक, अस्थिय ग्राम का समीकरण वर्तमान कुमार, कोन्नाग, मोरा और अस्थावा से करने का प्रयत्न किया है, वह नाम साम्य को देखकर तो थोड़ा सा विश्वसनीय प्रतीत होता है किन्तु जब हम इनकी दूरियों का विचार करते हैं तो वैशाली के निकटवर्ती कुमार, कोल्हुवा, अत्थिय गांव आदि से ही अधिक संगति मिलती है। वर्तमान में भी भिन्न-भिन्न प्रदेशों और मण्डलों के समान नाम वाले गांवों के नाम उपलब्ध हो जाते हैं। वस्तुत: डॉ. सीताराम राय ने जो समीकरण बनाने का प्रयास किया है वह दूरियों के हिसाब से समुचित नहीं है। उन्होंने जमुई से वर्तमान पावा की आगमों में उल्लिखित १२ योजन की दूरी को आधुनिक पावापुरी से समीकृत करने का जो प्रयत्न किया है वह किसी भी रूप में मान्य नहीं हो सकता। लेखक ने स्वयं भी जमुई से पावापुरी तक की यात्रा की है। बारह योजन की दूरी का तात्पर्य लगभग १६० कि.मी. होता है, जबकि जमुई से पावापुरी की दूरी मात्र ६० कि.मी. के लगभग है। अत: जमुई को महावीर का केवलज्ञान का स्थान मान भी लिया जाय तो भी उससे वर्तमान पावा की दूरी आगमिक आधारों पर समुचित सिद्ध नहीं होती।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वर्धमान महावीर के वैशालिक होने का एक अन्य प्रमाण हमें थेरगाथा की अट्ठकथा (व्याख्या) में मिलता है। थेरगाथा में वर्धमान थेर का उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि दान के पुण्य के परिणामस्वरूप वर्धमान देवलोक से च्युत होकर गौतमबुद्ध के जन्म लेने पर वैशाली के लिछवी राजकुल में उत्पन्न होकर प्रव्रज्या ग्रहण की। (इमस्मिं बुद्धपादे वेसालियं लिच्छवि राजकुले निब्बत्ति वड्ढमानो तिस्स नामं अहोसि -- थेरगाथा अट्ठकथा नालन्दा संस्करण पृ. १५३)। इस प्रकार यहां उन्हें वैशाली के लिछवी राजकुल में जन्म लेने वाला बताया गया। यद्यपि परम्परागत विद्वानों का यह विचार हो सकता है कि ये वर्धमान बौद्ध परम्परा में दीक्षित कोई अन्य व्यक्ति होंगे, किन्तु हमारा यह स्पष्ट अनुभव है कि जिस प्रकार ऋषिभाषित सभी अर्हतऋषि निर्ग्रन्थ परम्परा के नहीं हैं, उसी प्रकार थेरगाथा में वर्णित सभी स्थविर बौद्ध नहीं हैं। वैशाली के लिछवी राजकुल में उत्पन्न बुद्ध के समकालिक वर्धमान थेर वर्धमान महावीर से भिन्न नहीं माने जा सकते । थेरगाथा की अट्ठकथा के अनुसार उन्होंने आंतरिक और बाह्य संयोगों को छोड़कर, रूपराग, अरूपराग तथा भवराग को समाप्त करने का उपदेश दिया तथा यह कहा है कि अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों को साक्षीभाव से देखते हुए भवराग और संयोजनों का प्रहाण सम्भव है। क्योंकि उनके ये विचार आचारांग एवं उत्तराध्ययन में भी मिलते हैं। इस उपदेश से यह स्पष्ट हो जाता है कि थेरगाथा में वर्णित वर्धमान थेर अन्य कोई नहीं, अपितु वर्धमान महावीर ही हैं। इस आधार पर भी यह सिद्ध होता है कि महावीर का जन्म वैशाली के लिछवी कुल में हुआ था। महावीर के प्रव्रज्या ग्रहण करने का उल्लेख करते समय यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि संवेग (वैराग्य) उत्पन्न होने पर उन्होंने अग्निकर्म का त्याग करके संघ से क्षमायाचना[७] करके कर्म परम्परा को देखकर प्रव्रज्या ग्रहण की। यह समग्र कथन भी जैन (निर्ग्रन्थ) परम्परा के अनुकुल ही है। अत: इससे भी यही सिद्ध होता है कि थेरगाथा के वैशाली के लिछवी कुल में उत्पन्न वर्धमान थेर वर्धमान महावीर ही हैं। इस प्रकार बौद्ध त्रिपिटक साहित्य भी महावीर के जन्म-स्थल के रूप में विदेह के अन्तर्गत वैशाली को ही मानते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों में हर्मनजैकोबी, हार्नले, विसेण्टस्मिथ, मुनिश्री कल्याण-विजयजी, डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, ज्योतिप्रसाद जैन, पं. सुखलालजी आदि जैन-अजैन सभी विद्वान वैशाली के निकटस्थ कुण्डग्राम को ही महावीर का जन्मस्थल मानते हैं।

बौद्धग्रन्थ महावग्ग (ईस्वीपूर्व ५वीं शती) में वैशाली के तीन क्षेत्र माने गये हैं- १. वैशाली, २. कुण्डपुर एवं ३. वाणिज्यग्राम। महावीर का लिछवी राजकुल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में जन्म मानने पर भी यह स्पष्ट है कि महावग्ग के अनुसार वैशाली में ७७०७ राजा थे। अत: महावीर के पिता को राजा मानने में बौद्ध साहित्य से भी कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि वहां 'राजा' शब्द का अर्थ वैशाली महासंघ की संघीय सभा का सदस्य होना ही है।

कुण्डग्राम की वसुकुण्ड से समानता के सम्बन्ध में डॉ. श्यामानंद प्रसाद की यह आपत्ति है कि वसुकुण्ड में केवल कुण्ड शब्द की ही समानता है, 'वसु' शब्द न तो ब्राह्मण का पर्यायवाची हो सकता है, न क्षत्रिय का। अत: उनका कहना है कि वर्तमान वसुकुण्ड को महावीर का जन्म स्थान नहीं माना जा सकता। किन्तु डॉ. प्रसाद ने मूलआगम साहित्य को शायद देखने का प्रयास नहीं किया। आचारांगसूत्र में वसुं [८] और वीर[९] शब्द का प्रयोग श्रमण के अर्थ में हुआ है। मात्र यही नहीं 'वसु' शब्द का एक अर्थ जिनदेव या वीतराग भी उपलब्ध होता है। यह सम्भव है कि भगवान महावीर के संयमग्रहण करने के बाद इस क्षेत्र को क्षत्रियकुण्ड के स्थान पर वसुकुण्ड कहा जाने लगा हो। वर्तमान लछवाड़ के समीप जो ब्राह्मणकुण्ड और क्षत्रियकुण्ड की कल्पना की गई है वहां इस तरह की कोई बसाहट नहीं है। ब्राह्मणकुण्ड और क्षत्रियकुण्ड नाम तो उन्हें महावीर के जन्मस्थल मान लेने पर दिये गये हैं। इस प्रकार मेरी यह सुनिश्चित धारणा है कि लछवाड़ के समीप जमुई मण्डल के इस क्षेत्र का सम्बन्ध महावीर के साधना एवं केवलज्ञान स्थल से अवश्य रहा है। जिसे वर्तमान में लछवाड़ कहा जाता है उसका सम्बन्ध लिच्छविया से हो सकता है, किन्तु इस नाम की भी प्राचीनता कितनी है यह शोध का विषय है। डॉ. प्रसाद का यह मानना समुचित नहीं है कि वैशाली को महावीर के जन्म स्थान के रूप में मान्यता १९४८ में मिली। इसके पूर्व भी विद्वानों ने वैशाली के निकट और विदेह क्षेत्र में महावीर का जन्म स्थान होने की बात कही है। यह निश्चित है कि लगभग १५-१६वीं शती से श्वेताम्बर परम्परा में लछवाड़ के समीपवर्ती क्षेत्र को महावीर के जन्म स्थान मानने की परम्परा विकसित हुई है। भगवान महावीर ने अर्धमागधी भाषा में अपना प्रवचन दिया था इसलिये वे मगध क्षेत्र के निवासी होने चाहिए, ऐसी जो मान्यता लछवाड़ के पक्ष में दी जाती है वह भी समुचित नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिये कि महावीर की भाषा मागधी न होकर अर्धमागधी है। यदि महावीर का जन्म और विचरण केवल मगध क्षेत्र में ही हुआ होता तो वे मागधी का ही उपयोग करते, अर्धमागधी का नहीं। अर्धमागधी स्वयं ही इस बात का प्रमाण है कि उनकी भाषा में मागधी के अतिरिक्त अन्य समीपवर्ती क्षेत्रों की भाषाओं एवं बोलियों के शब्द भी मिले हुए थे। मैं जमुई अनुमण्डल को महावीर का साधना स्थल एवं केवलज्ञानस्थल मानने में तो सहमत हूँ, किन्तु जन्मस्थल मानने में सहमत नहीं हूँ, अत: महावीर का जन्म स्थल वैशाली के समीप वर्तमान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वासुकुण्ड ही अधिक प्रामाणिक लगता है। जैन समाज को उस स्थान के सम्यक् विकास हेतु प्रयत्न करना चाहिए।

संदर्भ :

१. समणे भगवं महावीरे नाए, नायपुत्ते, नायकुलचंदे, विदेहे, विदेहदिन्ने, विदेहजच्चे विदेह सूमाले तीसं वासाइं विदेहंसि कट्टु - कल्पसूत्र ११० (प्राकृत भारती संस्करण पृ. १६०).

२. वही पृ. १६०.

३. णायसंडवणे उज्जाणे जेणेव असोकवरपायवे - कल्पसूत्र ११३ (प्राकृत भारती संस्करण पृ. १७०)एवं से उदाहु अणुत्तरणाणी अणुत्तरदसी अणुत्तरणाणदंसणधरे। अरहा - णायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए ।। सूत्रकृतांग १/२/३/२२.

४. देखें - कल्पसूत्र ५८, ६७, ६९ (प्रा.भा.सं.पृ. ९६, ११४ आदि).

५. देखें - बुद्धकालीन भारतीय भूगोल - भरत सिंह पृ. ३१३.

६. कल्पसूत्र ११९ (प्राकृत भारती संस्करण पृ. १८४).

७. ज्ञातव्य है आचारांग सूत्र में भी दीक्षा ग्रहण करते समय महावीर यह निर्णय लेते हैं कि मै सबके प्रति क्षमाभाव रखूंगा - (सम्मं सहिस्सामि इवमिस्सामि).

८. आचारांग १/१७४; ५/५५, ६/३०.

९. वही, १/३७, ६८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर का केवलज्ञान स्थल एक पुनर्विचार

वर्तमान में महावीर के केवलज्ञान स्थल के रूप में सम्मेदशिखर और गिरिडीह के बीच तथा पालगंज के समीप 'बाराकर' को महावीर का केवलज्ञान स्थल माना जाता हैं। यद्यपि पालगंज पुरातात्त्विक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण स्थल है। वहां पालकालीन (लगभग १०वीं शताब्दी का) मन्दिर भी हैं। उसी को लक्ष्य में रखकर सम्भवत: वर्तमान सम्मेतशिखर को २० तीर्थंकरों के निर्वाण स्थल के रूप में तथा बाराकर को महावीर के केवलज्ञान स्थल के रूप में लगभग १६वीं शताब्दी में मान्यता दी गई। मेरी दृष्टि में वर्तमान में जिसे श्वेताम्बर परम्परा महावीर का जन्मस्थल मान रही है, वह वस्तुत: महावीर का केवलज्ञान स्थल ही हैं। जैसा मैंने अपने आलेख 'भगवान महावीर का जन्म स्थल : एक पुनर्विचार' में इंगित किया है कि उस स्थल पर ई. सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में भी कोई स्मारक रहा था और यह बहुत कुछ सम्भव है कि वह स्मारक महावीर के केवलज्ञान प्राप्ति स्थल की स्मृति में ही बनाया गया हो। वर्तमान में 'बाराकर' को जो महावीर का केवलज्ञान स्थल माना जाता है, वहां १६-१७ शताब्दी से प्राचीन कोई पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होते। जबकि जमुई क्षेत्र के अन्तर्गत लछवाड़ के समीपवर्ती क्षेत्र में कम से कम ई. सन् के प्रारम्भिक शताब्दियों के पुरातात्त्विक प्रमाण विशेष रूप से ईंट आदि स्वंय लेखक ने देखे हैं।

आगमों में विशेष रूप से आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध एवं कल्पसूत्र में महावीर के केवलज्ञान प्राप्ति का जो सन्दर्भ उपस्थित है उसमें कहा गया है कि "जंभियग्राम नगर के बाहर ऋजुवालिका के उत्तरी किनारे पर शामकगाथापति के काष्टकरण (काष्टसंग्रह क्षेत्र) में 'वेयावत्त' नामक चैत्य के उत्तर-पूर्व दिशा भाग में न अति दूर और न अति निकट शालवृक्ष के नीचे उकडू होकर गोदुहासन से सूर्य की आतापना लेते हुए उर्ध्वजानु अधोसिर धर्म-ध्यान में निरत ध्यान कोष्टक को प्राप्त शुक्ल ध्यान के अन्तर्गत वर्तमान वर्धमान को निवृत्ति दिलाने वाला प्रतिपूर्ण अव्याहत निरावरण अनन्त, अनुत्तर, श्रेष्ठ ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हुआ।"[१] सामान्यतया विद्वानों ने यहां यह मान लिया है कि भगवान महावीर को जंभियग्राम के निकट ऋजुवालिका नदी के उत्तरी किनारे पर शामकगाथापति के खेत में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सालवृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने इसमें बहिया और कट्ठकरणंसी जैसे शब्दों की ओर ध्यान नहीं दिया हैं। वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा जिसे महावीर का जन्म स्थल मान रही है वह कच्चे मार्ग से वर्तमान जमुई से ७-८ कि.मी. से अधिक दूर नहीं है। इस मार्ग में ऊलाही नदी को दो-तीन बार पार करते हुए जाना पड़ता है। किन्तु यह मार्ग वस्तुत: मोटर, गाड़ियों आदि के लिए नहीं है। वैसे यदि नदी के किनारे-किनारे खेतों में से यात्रा की जाय तो मेरी दृष्टि में यह मार्ग लगभग ७ कि.मी. से अधिक नहीं हैं। लेखक ने स्वयं कच्चे मार्ग से कार से इस क्षेत्र की यात्रा की है। यदि हम जंभियगाम को आधुनिक जमुई ही मानें तो भी यह स्थान वहां से एक पहाड़ को पार करनेपर ७-८ कि.मी. से अधिक नहीं रह जाता हैं। मेरी दृष्टि में 'बहिया' का अर्थ अति निकट न समझ कर जंभियग्राम का बाह्य क्षेत्र समझना चाहिए। आज भी सामान्य रूप से किसी भी नगर के ८-१० कि.मी. के क्षेत्र को भी उसी नगर का बाह्य भाग माना जाता हैं। यहां यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सामान्यतया भगवान महावीर अपने साधनाकाल में किसी भी बड़े नगर के अति निकट नहीं रहते थे। 'कट्ठकरण' शब्द का जो कृषि भूमि या खेत अर्थ लगाया जाता है वह मेरी दृष्टि में उचित नहीं हैं। 'कट्ठकरण' का अर्थ जंगल या काष्ट संग्रह करने का क्षेत्र ऐसा होता है, कृषि क्षेत्र नहीं होता। पुन: शामक को सामान्य गृहस्थ या कृषक न मानकर गाथापति कहा गया है। गाथापति सामान्यतया नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति को ही कहा जाता है। वस्तुत: भगवान महावीर केवलज्ञान प्राप्ति के पूर्व शामक गाथापति के वन क्षेत्र में साधना हेतु स्थित थे। अत: महावीर का केवलज्ञान स्थल वस्तुत: ऋजुवालिका नदी के उत्तरी किनारे का शामक गाथापति का वन क्षेत्र ही था न कि कोई खेत। पुन: वहां सालवृक्षों के होने का तात्पर्य भी यही है कि वह सालवृक्षों का वन रहा होगा। अत: महावीर के केवलज्ञान स्थल को जंभिय (वर्तमान जमुई) के ऋजुवालिका नदी के (उलाई) उत्तरी किनारे का वन क्षेत्र समझना चाहिए। लेखक ने लगभग १५ वर्ष पूर्व जब इस क्षेत्र की यात्रा की थी तब भी यह क्षेत्र तीन ओर से पहाड़ियों से घिरा हुआ वन क्षेत्र ही था। उसके अतिनिकट लेखक को किसी ग्राम आदि की उपस्थिति नहीं मिली। यदि हम 'बहिया' का अर्थ नगर का बाह्य भाग मानें तथा उस स्थल को ऋजुवालिका नदी के उत्तर किनारे पर स्थित वन क्षेत्र के रूप में स्वीकार करें तो भगवान महावीर का केवलज्ञान स्थल वही सिद्ध होता है, जिसे आज श्वेताम्बर समाज महावीर का जन्म स्थल मान रहा हैं।

आगम में केवलज्ञान स्थल को जम्भिय ग्राम नगर का बहिर्भाग (बाहिया) कहा गया है। सामान्यतया 'बहिया' या बहिर्भाग का अर्थ निकटस्थ स्थल माना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जाता है किन्तु आगमों के अनुसार उस काल में २०-२५ किलोमीटर दूर स्थित स्थलों को भी उस नगर का बहिर्भाग ही माना जाता था, उदाहरणार्थ- नालन्दा को भी राजगृह का बहिर्भाग (तस्स णं रायगिहस्स नगरस्स बहिया उत्तर पुरत्थिमे दिसीभाए एत्थणं नालन्दा नामं - ज्ञातासूत्र अध्याय ७ का प्रारम्भिक सूत्र) कहा गया है जबकि नालन्दा और राजगृह के बीच की दूरी लगभग २० किलोमीटर है। अत: वर्तमान लछवाड़ की जमुई (जम्भिय) का बाह्य विभाग माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं है।

वर्तमान में महावीर के जन्म स्थान के रूप में मान्य 'लछवाड़' महावीर का कैवल्य प्राप्ति का स्थान है इसकी पुष्टि अन्य तथ्यों से भी होती है। प्रथमत: इसके समीप बहने वाली 'ऊलाई' नामक नदी 'उजुवालिया' का ही अपभ्रंश रूप है। क्योंकि प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से उजुवालिया का उलाई रूप सम्भव है।

सर्वप्रथम लोप के नियमानुसार 'ज' का लोप होने पर और व का उ होने पर तथा तीनों ह्रस्व उ का ऊ होने पर ऊलिया रूप होगा, इसमें भी ऊ+ल+इ+य+आ (ऊलइया) में इ+य का दीर्घ ई होकर आ का स्थान परिवर्तन होकर ल के साथ संयोग होने से 'ऊलाई' रूप बनता है। पुन: संस्कृत के कुछ ग्रन्थों में उजुवालिया (ऋजुवालिका) के स्थान पर ऋजुकूला रूप भी मिलता है। प्राकृत के नियमों के अनुसार ऋ का उ, मध्यवर्ती ज का लोप होने पर जु का उ और मध्यवर्ती क का लोप होने पर कू का ऊ उस प्रकार उ+उ+ऊ+ला में दोनों ह्रस्व उ का दीर्घ ऊ में समावेश होकर ऊला रूप बनता है, जिसमें मुख सुविधा हेतु ई का आगम होकर ऊलाई रूप बनता है।

ज्ञातव्य है कि यही नदी अन्य जलधाराओं से मिलती हुई आगे चलकर जमुई के आसपास क्यूल के नाम से जानी जाती है, यह भी कूल का अपभ्रंश रूप लगता है।

इससे यह सिद्ध होता है - ऊलाई जो जमुई नगर से आगे चलकर क्यूल के नाम से जानी जाती है ऋजुवालिका अथवा ऋजुकूला का ही अपभ्रंश रूप है। अत: नदी के नाम की दृष्टि से भी महावीर का केवल ज्ञान स्थल वर्तमान लछवाड़ ही है। लछुवाड़ नाम भी लिच्छवी वाटक अर्थात् लिच्छवी का मार्ग या लक्ष्यवाट अर्थात् लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग ऐसा सिद्ध करता है। चूंकि इस प्रकार लिच्छवी महावीर का ज्ञान प्राप्ति या लक्ष्य प्राप्ति का स्थल होने से ही यह स्थल लछुवाड़ कहलाया होगा, इस सम्भावना को पूर्णत: निरस्त नहीं किया जा सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस स्थान पर तीर्थ स्थापन नहीं होने का कारण भी स्पष्ट है। चूंकि आज भी यह स्थान निर्जन है उस काल में तो यह इससे भी अधिक निर्जन रहा होगा, फिर सन्ध्याकाल होते होते वहाँ कोई उपदेश सुनने को उपलब्ध हो, यह भी सम्भव नहीं था। साथ ही इस क्षेत्र में महावीर के परिचितजनों का भी अभाव था, अत: भगवान महावीर ने यह निर्णय किया होगा कि जहाँ उनके ज्ञातीजन या परिचितजन रहते हों ऐसी मध्यमा अपापापुरी (पावापुरी) में जाकर प्रथम उपदेश देना उचित होगा। ज्ञातव्य है कि आगमिक व्याख्याओं में लछुवाड़ से मध्यदेश में स्थित मल्लों की राजधानी पावा की दूरी १२ योजन बताई गई है, जो लगभग सही प्रतीत होती है। वर्तमान में भी लछुवाड़ से उसमानपुर-वीरभारी के निकटवर्ती स्थल को पावा मानने पर ऋजु या सीधे मार्ग से वह दूरी लगभग १९० किलोमीटर होती है। १५ किलोमीटर का एक योजन मानने पर यह दूरी १८० किलोमीटर होती है। ज्ञातव्य है जैनेन्द्रसिद्धान्त कोश में एक योजन ९.०९ मील के बराबर बताया गया है। इस आधार पर १ योजन लगभग १५ किलोमीटर का होता है। मानचित्र में हमने इसे स्केल से मापकर भी देखा है जो लगभग सही है। इस प्रकार हमारी दृष्टि में महावीर का केवलज्ञान प्राप्ति का स्थल जमुई के निकटवर्ती क्षेत्र लछवाड़ ही है, वर्तमान बाराकर और जामू नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान महावीर की निर्वाणभूमि पावा एक पुनर्विचार

यह जैन धर्मानुयायिओं का दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि जहाँ भगवान बुद्ध के बौद्ध धर्म का भारत से लोप हो जाने के बाद भी भगवान बुद्ध के जन्मस्थल, ज्ञान प्राप्ति-स्थल, प्रथम उपदेश-स्थल और परिनिर्वाण-स्थल की सम्यक् पहचान हो चुकी है और इस सम्बन्ध में कोई मतवैभिन्य नहीं है, वहां जैन धर्म के भारत में जीवन्त रहते हुए भी आज भगवान महावीर का जन्मस्थल, केवलज्ञानस्थल, प्रथम उपदेशस्थल और परिनिर्वाणस्थल - सभी विवाद के घेरे में हैं, उनकी सम्यक् पहचान अभी तक नहीं हो सकी है, जबकि उन स्थलों के सम्बन्ध में आगम और आगमिक व्याख्याओं तथा पुराण साहित्य में स्पष्ट निर्देश है। पूर्व के दो आलेखों में हमने उनके जन्मस्थल और केवलज्ञानस्थल की पहचान का एक प्रयत्न किया था। इस आलेख में हम उनके तीर्थस्थापनस्थल और परिनिर्वाणस्थल की पहचान का प्रयत्न करेंगे। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जहाँ श्वेताम्बर परम्परा भगवान महावीर के तीर्थस्थापनास्थल और परिनिर्वाणस्थल दोनों को 'मज्झिमापावा' अर्थात् मध्यम+अपापा को मानती है, वहाँ दिगम्बर परम्परा तीर्थ स्थापनस्थल तो राजगृह के वैभारगिरि को मानती है, किन्तु परिनिर्वाणस्थल तो पावा को ही मानती है। इस प्रकार निर्वाणस्थल के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में मतैक्य है - दोनों ही 'पावापुरी' को महावीर का परिनिर्वाण स्थल मानती हैं। किन्तु मूल प्रश्न यह है कि यह पावा कहाँ स्थित है?

वर्तमान में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएं राजगृह और नालन्दा के समीपवर्ती पावापुरी को महावीर का निर्वाण स्थल मान रही हैं और दोनों के द्वारा उस स्थल पर मन्दिर आदि निर्मित हैं। किन्तु विद्वत्वर्ग इस स्थल को महावीर का निर्वाण स्थल मानने में सहमत नहीं है। उसकी आपत्तियाँ निम्न हैं -

१. भगवान महावीर के निर्वाण के समय नव मल्ल, नव लिच्छवी आदि १८ गणराज्यों के राजा तथा काशी और कोशल देश के राजा उपस्थित थे (कल्पसूत्र १२७)। राजगृही के समीपवर्ती पावा में उनकी उपस्थिति सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि राजगृह राज्यतंत्र था और मल्ल, लिच्छवी, वज्जी, वैशाली

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि के गणतंत्रात्मक राज्यों से उसकी शत्रुता थी, जबकि गणतंत्र के राजाओं में पारस्परिक सौमनस्य था। दूसरे, काशी और कोसल के राजाओं का वहां उपस्थित रहना भी सम्भव नहीं था। क्योंकि राजगृह के समीपवर्ती पावा से उनकी दूरी लगभग ३०० किलामीटर थी जबकि फजिलका या उसमानपुर के निकटवर्ती पावा समीप थी और उनके राज्यों की सीमा से लगी हुई थी।

२. यदि महावीर का निर्वाण राजगृह की समीपवर्ती पावा के पास होता तो उस समय वहां कुणिक अजातशत्रु की उपस्थिति का उल्लेख निश्चित हुआ होता, क्योंकि वह महावीर का भक्त था। किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में कहीं भी उसकी उपस्थिति के संकेत नहीं हैं। इसके विपरीत मल्ल, लिच्छवी आदि गणतंत्रों के राजाओं की उपस्थिति के संकेत हैं।

३. महावीर के काल में राजगृह के समीप किसी पावा के होने के संकेत प्राचीन जैन आगमों और बौद्ध त्रिपिटक में नहीं मिलते। जबकि बौद्ध त्रिपिटक में कुशीनगर के समीपवर्ती मल्लों की पावा के अनेक उल्लेख मिलते हैं। त्रिपिटक में मल्लों के कुशीनगर और पावा ऐसे दो गणराज्यों का उल्लेख है, ये मल्लगणराजा महावीर के निर्वाण के समय उपस्थित भी थे।

४. पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर राजगृह की समीपवर्ती वर्तमान में मान्य पावा ही महावीर की निर्वाणस्थली है, यह सिद्ध नहीं होता है। क्योंकि वहाँ जो प्राचीनतम पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध है, वह संवत् १२६० में अभयदेवसूरि द्वारा स्थापित चरण है। इस आधार पर भी वर्तमान पावा की ऐतिहासिकता तेरहवीं शती से पूर्व नहीं जाती है।

५. राजगृह के अति समीप वर्तमान में मान्य पावा में कल्पसूत्र में उल्लिखित हस्तिपाल जैसे किसी स्वतंत्र राजा का राज्य होना सम्भव नहीं है। दो गणराज्यों की राजधानी और राज्य २०-२५ मील की दूरी पर होना सम्भव है, जैसे कुशीनगर के मल्लों की और पावा के मल्लों की राजधानियां मात्र २० किलोमीटर की दूरी पर स्थित थीं। किन्तु मगध जैसे साम्राज्य की राजधानी के अति समीप मात्र २०-२५ किलोमीटर की दूरी पर हस्तिपाल जैसे स्वतंत्र राजा की राजधानी पावा का होना सम्भव नहीं था।

६. कुछ व्यक्तियों का यह तर्क है कि वर्तमान 'पावा' को ही महावीर का निर्वाणस्थल और लछवाड़ या नालन्दा के समीपवर्ती कुण्डपुर को महावीर का जन्मस्थान मानना उचित है। क्योंकि ये दोनों वर्तमान पावा के इतने निकट हैं कि भगवान के पार्थिव शरीर की दाह क्रिया के समय भगवान के बड़े भाई नन्दिवर्धन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसमें सम्मिलित हो सके। किन्तु यह तर्क समुचित नहीं है, क्योंकि प्रथम तो नन्दिवर्धन महावीर की दाह क्रिया में सम्मिलित हुए थे, ऐसा कोई प्राचीन उल्लेख नहीं है। यदि यह मानें कि १८ गणराजाओं में नन्दिवर्धन भी थे, तो वे तो पौषध के निमित्त पूर्व से ही वहाँ उपस्थित थे। पुन: वैशाली के निकटवर्ती क्षत्रिय कुण्डग्राम से भी उसमानपुर वीरभारी या फाजिल नगर के निकट सठियाँव के समीप स्थित पावा की दूरी भी लगभग १०० मील से अधिक नहीं है, घोड़े पर एक दिन में इतनी दूरी पार करना भी कठिन नहीं है। क्योंकि अच्छा घोड़ा एक घण्टे में १० मील की यात्रा आसानी से कर लेता है।

पुन: एक विचारणीय प्रश्न यह है कि आगमों में महावीर के परिनिर्वाण स्थल को 'मज्झिमा पावा' कहा गया है। 'मज्झिमा' शब्द की व्याख्या विद्वानों ने अनेक दृष्टि से की है। कुछ विद्वानों के अनुसार मज्झिमा का अर्थ है- मध्यवर्ती पावा अर्थात् उनके अनुसार उस काल में तीन पावा रही होगी। उन तीन पावाओं में मध्यवर्ती पावा को ही मज्झिमा पावा कहा गया है। वर्तमान चर्चाओं के आधार पर यदि हम राजगृह के समीपवर्ती पावा और पड़रौना समीप स्थित पावा की कल्पना को सही मानें तो इनके मध्यवर्ती फाजिल नगर या वीरभारी की पावा को मध्यवर्ती पावा माना जा सकता है।

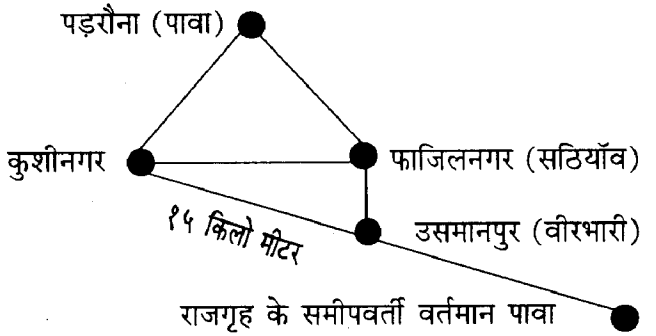

किन्तु उस काल में ऐसी तीन पावा थी, इसका कोई भी प्रमाण जैनागमों और त्रिपिटक में नहीं मिलता। यद्यपि इस कल्पना की एक फलश्रुति अवश्य है, वह यह कि राजगृह के समीपवर्ती पावा चाहे उस युग में रही भी हो, किन्तु वह मध्यवर्ती पावा (मज्झिमा पावा) नहीं हो सकती है अत: उसे महावीर की निर्वाण भूमि नहीं माना जा सकता है। वह मध्यवर्ती पावा न होकर दक्षिण या अन्त्य पावा ही सिद्ध होगी। क्योंकि उसके दक्षिण या पूर्व दिशा में किसी अन्य पावा के कोई भी संकेत नहीं मिले हैं। इस तीन पावा नगरों की कल्पना को स्वीकार करने में सबसे बड़ी बाधा यह भी है कि पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्यों से यह बात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्ध नहीं होती कि महावीर या बुद्ध के काल में पावा नामक नगर तीन थे। जो भी साहित्यिक उल्लेख उपलब्ध हैं वे मल्लों की मध्यदेशीय पावा के ही हैं, अन्य किसी पावा का कोई उल्लेख नहीं है।

कुछ विद्वानों ने तीन 'पावा' की बात तो स्वीकार नहीं की किन्तु मज्झिमा पावा का अर्थ यह लगाया है कि पावा नगर के मध्य में स्थित हस्तिपालराजा की रज्जुक सभा में महावीर का निर्वाण हुआ था, इसी कारण उसे मज्झिमा पावा कहा गया है। प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से मज्झिमा पावा का विशेषण है, उसका अर्थ मध्यमा अर्थात् बीच की पावा या मध्यदेशीय पावा ऐसा होगा, किन्तु पावा के मध्य में ऐसा नहीं। क्योंकि यदि लेखक को यह बात कहनी होती तो वह 'पावाए मज्झे' इन शब्दों का प्रयोग करता न कि 'मज्झिमापावा' का।दूसरे महावीर जब भी चातुर्मास करते थे तो गाँव या नगर के मध्य में न करके गाँव या नगर के बाहर ही किसी उद्यान, चैत्य आदि पर ही करते थे - अत: उन्होंने यह चातुर्मास पावा नगर के मध्य में किया होगा, यह बात सिद्ध नहीं होती। रज्जुक सभा का अर्थ भी यह बताता है कि वह स्थान हस्तिपाल राजा के नाप तौल विभाग का सभा स्थल रहा होगा। किन्तु यह सभाभवन के नगर के मध्य में हो, यह सम्भावना कम ही है। ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में नाप के लिए रज्जु शब्द का प्रयोग मिलता है। सामान्य रूप से रज्जुक वे राजकीय कर्मचारी थे जो रस्सी लेकर भूमि या खेतों का माप करते थे। ये कर्मचारी वर्तमान काल के पटवारियों के समान ही थे। राज्य में प्रत्येक गांव का एक रज्जुक होता होगा और एक छोटे से राज्य में भी हजारों गाँव होते थे अत: राज्य कर्मचारियों में रज्जुकों की संख्या सर्वाधिक होती थी। सम्भव है उनकी सभा हेतु कोई विशाल भवन रहा हो।

महावीर ने यह स्थल चातुर्मास के लिए इस कारण से चुना होगा कि इसमें विशाल सभागार रहा होगा। ऐसा सभागार महावीर के विशाल संघ के चातुर्मास का उपयुक्त स्थल हो सकता था, किन्तु यह नगर के मध्य हो, यह सम्भावना कम ही है। इस प्रकार मज्झिमा का अर्थ न तो मध्यवर्ती पावा होगा और न पावा के मध्य में ऐसा होगा।

अब हम 'मज्झिमा' शब्द के तीसरे अर्थ मध्यदेशीय पावा की ओर आते हैं। तीसरे अर्थ के अनुसार इसका तात्पर्य यह होगा कि वह पावा नगर मध्यदेश में स्थित था। ज्ञातव्य है कि पालि त्रिपिटक और बुद्धकालीन भूगोल में मध्यदेश की सीमाएँ इस प्रकार थीं - मध्यदेश के पूर्व में विदेह पश्चिम में कौशल, उत्तर में शाक्य/मौरिय (नेपाल का तराई क्षेत्र) तथा दक्षिण में काशी देश स्थित थे। इसका अर्थ है कि मज्झिमापावा मध्यदेश में स्थित थी, जबकि वर्तमान में मान्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजगृह की समीपवर्ती पावा मगध देश में स्थित है अत: मज्झिमा विशेषण से यह बात सिद्ध होती है कि महावीर के निर्वाण स्थल के रूप में मान्य पावा उस काल के मध्यदेश अर्थात् मल्लों के गणतंत्र में स्थित थी। इस आधार पर कुशीनगर से लगभग २० किलोमीटर दक्षिण पूर्व में स्थित फाजिलनगर सठियाँव या उसमानपुर वीरभारी के समीपवर्ती क्षेत्र के पावा होने की सम्भावना अधिक समीचीन लगती है क्योंकि उसकी पुष्टि बौद्ध साहित्यिक साक्ष्यों से होती है।

मध्यदेश में स्थित इस 'पावा' की पहचान करने में भी कठिनाई यह है कि इस सम्बन्ध में विद्वानों में अभी मतैक्य नहीं हो पाया है। खेतान जी आदि कुछ विद्वान वर्तमान पड़रौना के सिद्धवा को पावा मानते हैं, तो कारलाइल प्रभृति कुछ विद्वानों ने फाजिलनगर 'सठियावं' को 'पावा' माना है। श्री ओमप्रकाशलाल श्रीवास्तव ने 'श्रमण' जनवरी-जून २००० में प्रकाशित अपने लेख में एक नया मत प्रस्तुत करते हुए, उसमानपुर के निकटवर्ती वीरभारी नामक टीले को पावा बताया है। अत: चाहे राजगृही के समीपवर्ती पावा को महावीर निर्वाण स्थल नहीं भी माना जाये और मध्यदेश स्थित मल्लों की 'पावा' को ही महावीर की निर्वाण भूमि माना जाये, तो भी उस स्थान का सम्यक् निर्णय करना अभी शेष है।

मध्यदेश स्थित मल्लों की राजधानी 'पावा' की पहचान का सबसे महत्त्वपूर्ण साहित्यिक साक्ष्य यह है कि वह भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण-स्थल कुशीनगर से ३ गव्यूति की दूरी पर स्थित थी। किन्तु कुशीनगर को केन्द्र मानकर यदि तीन गव्यूति व्यास से वृत्त खींचा जाय तो उसमें चारों दिशाओं के अनेक स्थल आयेंगे। अत: इस आधार पर भी सम्यक् निर्णय पर कैसे पहुँचें? इस हेतु हमें बुद्ध के अन्तिम यात्रामार्ग के आधार पर निर्णय लेना होगा। अपने जीवन की इस सन्ध्या में बुद्ध किस मार्ग से कुशीनगर से आये थे? सम्भावनाएँ तीन हो सकती हैं - राजगृह वैशाली मार्ग से, श्रावस्ती के मार्ग से या शाक्य प्रदेश अर्थात् कपिलवस्तु (नेपाल की तराई) से। यदि वे श्रावस्ती से आ रहे थे तो 'पावा' की खोज कुशीनगर के पश्चिम में करनी होगी। यदि वे शाक्य राज्य से आ रहे थे तो पावा की खोज कुशीनगर के उत्तर में करना होगी किन्तु यदि वे राजगृह या वैशाली से आ रहे थे तो हमें 'पावा' की खोज कुशीनगर के दक्षिण-पूर्व में करनी होगी। पालि साहित्य से जो सूचनाएं हमें प्राप्त हैं उस आधार पर उनकी यह यात्रा राजगृह-वैशाली की ओर से थी, अत: 'पावा' की खोज कुशीनगर के दक्षिण-पूर्व में करना होगी। इस आधार पर पड़रौना के सिद्धवा को 'पावा' मानने की सम्भावना निरस्त हो जाती है, क्योंकि पड़रौना कुशीनगर (वर्तमान कसाया) के ठीक उत्तर में है। यद्यपि भगवान महावीर निर्वाणभूमि 'पावा' नामक भगवतीप्रसाद

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खेतान की पुस्तक की भूमिका में उनके मत का समर्थन करते हुए मेरा झुकाव भी पड़रौना को पावा मानने के पक्ष में था। किन्तु निम्न तीन कारणों से अब मुझे अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना पड़ रहा है -

१. पड़रौना के 'पावा' होने के पक्ष में आज तक कोई भी ठोस साहित्यिक और पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। आदरणीय भगवतीप्रसाद खेतान द्वारा दिये गये तर्कों और साक्ष्यों से यह तो सिद्ध होता है कि राजगृह के समीपवर्ती पावा वास्तविक पावा नहीं है, किन्तु पडरौना का सिद्धवा स्थान ही पावा है, यह पूर्णतया सिद्ध नहीं होता।

२. दूसरे, पडरौना राजगृह-वैशाली-कुशीनारा के सीधे या सरल मार्ग पर स्थित नहीं है, राजगृह या वैशाली से पडरौना होकर कुशीनारा आना एक चक्करदार रास्ता है। भगवान बुद्ध की इस यात्रा का लक्ष्य कुशीनारा था अत: उत्तर में जाकर पुन: दक्षिण में आने वाले मार्ग का चयन उचित नहीं था।

३. जैन व्याख्या साहित्य के अनुसार भगवान महावीर ने अपने कैवल्य स्थल से बारह योजन चलकर पावा में अपने धर्म तीर्थ की स्थापना की थी। मेरी दृष्टि में वर्तमान जमुई के समीपवर्ती लछवाड़ महावीर का जन्म स्थल न होकर कैवल्यज्ञान स्थल है। वहाँ से सीधे मार्ग से पावा की दूरी लगभग १९० किलोमीटर से अधिक नहीं होनी चाहिए। पडरौना को पावा मानने पर यह दूरी लगभग २५० से अधिक हो जाती है। अत: पडरौना को पावा मानने में अनेक कठिनाईयाँ हैं।

कुशीनगर से दक्षिण पूर्व में पावा को मानने के सम्बन्ध में भी अब हमारे सामने दो विकल्प हैं? प्रथम फाजिलनगर सठियांव और दूसरा उसमानपुर-वीरभारी। यद्यपि कार्लाइल आदि विद्वानों ने फाजिलनगर सठियांव को पावा मानने के पक्ष में अपना मत दिया था। उसके परिणामस्वरूप गोरखपुर, देवरिया आदि के कुछ दिगम्बर जैनों ने और कुछ प्रबुद्ध वर्ग ने उसे महावीर की निर्वाण भूमि मानकर मन्दिर धर्मशाला आदि भी बनवाये हैं। किन्तु श्री ओमप्रकाशलाल का कहना है कि वहाँ से जो मृणमुद्रा मिली है, उससे वह स्थल श्रेष्ठिग्राम सिद्ध होता है, पावा नहीं। पुन: वह स्थल भी कुशीनारा से १८-२० मील पूर्व में ही है, दक्षिण पूर्व में नहीं है। इस दृष्टि से उसमानपुर वीरभारी को पावा मानने का पक्ष अधिक सबल प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य वहाँ से **'प(ा)वानारा'** के उल्लेख युक्त मृणमुद्रा का प्राप्त होना है। जिस प्रकार प्राप्त मृणमुद्राओं के आधार पर उन-उन ग्राम या नगरों की पहचान पूर्व में इतिहासकारों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के द्वारा की गई, उसी प्रकार इस मुद्रा के आधार पर इसे 'पावा' स्वीकार किया जा सकता है। पुन: महावीर के कैवल्यस्थल से इस स्थल की दूरी भी सरल सीधे मार्ग से १२-१३ योजन के लगभग सिद्ध होती है। ज्ञातव्य है कि योजन की लम्बाई को लेकर भी विभिन्न मत है। यह दूरी एक योजन मात्र ९.०९ या लगभग १५ किलोमीटर मान कर निश्चित की गई है।

मैंने इस पावा की अवस्थिति को उसमानपुर के समीप और कैवल्यस्थल लछवाड़ को जमुई के समीप मानकर नक्शे के स्केल के आधार पर दूरी निकाली थी, जो लगभग १९० किलोमीटर आती है। अत: उसमानपुर वीरभारी को पावा मानने पर आगमिक व्याख्याओं की १२ योजन की दूरी का भी कुछ समाधान मिल जाता है।

फिर भी जब तक फाजिलनगर के डीह और वीरभारी के टीलों की खुदाई न हो और सबल पुरातात्त्विक साक्ष्य उपलब्ध न हों इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय देना समुचित नहीं होगा, तथापि पावा की पहचान के सम्बन्ध में जो विभिन्न विकल्प हैं, उनमें मुझे उसमानपुर वीरभारी का पक्ष सबसे अधिक सबल प्रतीत होता है और वर्तमान में राजगृह के समीपवर्ती पावापुरी को महावीर की निर्वाणभूमि पावा मानना सन्देहास्पद लगता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन तत्त्वमीमांसा की विकासयात्रा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में

जैन धर्म मूलत: आचार प्रधान है, उसमें तत्त्वमीमांसीय अवधाराणाओं का विकास भी आचारमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में ही हुआ है। उसके तत्त्वमीमांसीय अवधारणाओं में मुख्यत: पंचास्तिकाय, षटद्रव्य, षट्जीवनिकाय और नव या सप्त तत्त्वों की अवधारणा प्रमुख है। परम्परा की दृष्टि से तो ये सभी अवधारणायें अपने पूर्ण रूप में सर्वज्ञ प्रणीत और सार्वकालिक हैं, किन्तु साहित्यिक साक्ष्यों की दृष्टि से विद्वानों ने कालक्रम में इनका विकास माना है। प्रस्तुत आलेख में कालक्रम में निर्मित ग्रन्थों के आधार पर इनकी विकासयात्रा को चित्रित किया गया है।

अस्तिकाय की अवधारणा

विश्व के मूलभूत घटकों के रूप में पंचास्तिकायों की अवधारणा जैनदर्शन की अपनी मौलिक विचारणा है। पंचास्तिकायों का उल्लेख आचारांग में अनुपलब्ध है, किन्तु ऋषिभाषित (ई.पू. चतुर्थ शती) के पार्श्व अध्ययन में पार्श्व की मान्यताओं के रूप में पंचास्तिकाय का वर्णन है। इससे फलित होता है कि यह अवधारणा कम से कम पार्श्वकालीन (ई.पू. आठवीं शती) तो है ही। महावीर की परम्परा में भगवतीसूत्र में सर्वप्रथम हमें इसका उल्लेख मिलता है। जैनदर्शन में अस्तिकाय का तात्पर्य विस्तारयुक्त अस्तित्ववान द्रव्य से है। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन पंचास्तिकायों में धर्म, अधर्म और आकाश को एक-एक द्रव्य और जीव तथा पुद्गल को अनेक द्रव्य माना गया है। ई. सन् की तीसरी शती से दसवीं शती के मध्य इस अवधारणा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं देखा जाता, मात्र षट्द्रव्यों की अवधारणा के विकास के साथ-साथ काल को अनस्तिकाय द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। ई. सन् की तीसरी-चौथी शती तक अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र की रचना के पूर्व यह विवाद प्रारम्भ हो गया था कि काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना जाय या नहीं। विशेषावश्यकभाष्य के काल तक अर्थात् ईसा की सातवीं शती तक काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में स्वीकार करने के सम्बन्ध में मतभेद था। कुछ जैन दार्शनिक काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते थे और कुछ उसे स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते थे, किन्तु बाद में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अस्तिकाय और द्रव्य की अवधारणाओं का समन्वय करते हुए काल को अनस्तिकाय द्रव्य के रूप में स्वतन्त्र द्रव्य स्वीकार कर लिया गया।

अस्तिकाय की अवधारणा जैनों की मौलिक अवधारणा है। किसी अन्य दर्शन में इसकी उपस्थिति के संकेत नहीं मिलते। मेरी दृष्टि में प्राचीन काल में अस्तिकाय का तात्पर्य मात्र अस्तित्व रखने वाली सत्ता था, किन्तु आगे चलकर जब अस्तिकाय और अनस्तिकाय ऐसे दो प्रकार के द्रव्य माने गये तो अस्तिकाय का तात्पर्य आकाश में विस्तार युक्त द्रव्य से माना गया। पारम्परिक भाषा में अस्तिकाय को बहु-प्रदेशी द्रव्य भी कहा गया है, जिसका तात्पर्य यही हैं कि जो द्रव्य आकाश क्षेत्र में विस्तरित है, वही 'अस्तिकाय' हैं।

पंचास्तिकाय

जैन दर्शन में वर्तमान काल में जो षट्द्रव्य की अवधारणा है, उसका विकास इसी पंचास्तिकाय की अवधारणा से ही हुआ हैं। पंचास्तिकायों में काल को जोड़कर लगभग प्रथम-द्वितीय शती में षट्द्रव्यों की अवधारणा निर्मित हुई है। जहाँ तक पंचास्तिकाय की अवधारणा का प्रश्न है वह निश्चित ही प्राचीन है, क्योंकि उसका प्राचीनतम उल्लेख हमें 'इसिभासियाइं' के पार्श्व नामक अध्ययन में मिलता है। ऋषिभाषित की प्राचीनता निर्विवाद है। पं. दलसुखभाई का यह कथन कि "पंचास्तिकाय की अवधारणा परवर्ती काल में बनी है" - उतना ही सत्य है कि महावीर की परम्परा में आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की रचनाकाल तक इस अवधारणा का उल्लेख नहीं है, क्योंकि मूल में यह अवधारणा पार्श्वापत्यों की थी। जब पार्श्व के अनुयायियों को महावीर के संघ में समाहित कर लिया गया, तो उसके साथ ही पार्श्व की अनेक मान्यताएँ भी महावीर की परम्परा में स्वीकृत की गयीं। इसी क्रम में यह अवधारणा महावीर की परम्परा में स्पष्ट रूप से मान्य हुई। भगवतीसूत्र में सर्वप्रथम यह कहा गया कि लोक, धर्म, अधर्म, आकाश, अजीव और पुद्गल रूप हैं। ऋषिभाषित में तो मात्र पाँच अस्तिकाय हैं - इतना ही निर्देश है, उनके नामों का भी उल्लेख नहीं है। चाहे ऋषिभाषित के काल में पंचास्तिकायों के नाम निर्धारित हो भी चुके हों, किन्तु फिर भी उनके स्वरूप के विषय में वहाँ कोई भी सूचना नहीं मिलती। धर्म-अधर्म आदि पंच अस्तिकायों का जो अर्थ आज है, वह कालक्रम में विकसित हुआ हैं। भगवतीसूत्र में ही हमें ऐसे दो सन्दर्भ मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में धर्म अस्तिकाय और अधर्म अस्तिकाय का अर्थ गति और स्थिति में सहायक द्रव्य नहीं था। भगवतीसूत्र के ही बीसवें शतक में धर्मास्तिकाय के जो पर्यायवाची दिये गये हैं, उनमें अट्ठारह पाप स्थानों से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विरति, पाँच समिति और तीन गुप्तियों के पालन को ही धर्मास्तिकाय कहा गया है। इसी प्रकार प्राचीनकाल में अट्ठारह पापस्थानों के सेवन तथा पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का परिपालन नहीं करने को ही अधर्मास्तिकाय कहा जाता था। इसी प्रकार भगवतीसूत्र के सोलहवें शतक में यह प्रश्न उठाया गया कि लोकान्त में खड़ा होकर कोई देव अलोक में अपना हाथ हिला सकता है या नहीं? इसका न केवल नकारात्मक उत्तर दिया गया अपितु यह भी कहा गया कि गति की सम्भावना जीव और पुद्गल में है और अलोक में जीव और पुद्गल का अभाव होने से ऐसा सम्भव नहीं है। यदि उस समय धर्मास्तिकाय को गति का माध्यम माना गया होता तो, पुद्गल का अभाव होने पर वह ऐसा नहीं कर सकता, इस प्रकार के उत्तर के स्थान पर ऐसा कहा जाता कि धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण वह ऐसा नहीं कर सकता। क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में मुक्त आत्मा का अलोक में गति न होने का कारण अलोक में धर्मास्तिकाय का अभाव ही बताया गया है। धर्मास्तिकाय गति में सहायक द्रव्य है और अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायक द्रव्य है - यह अवधारणा एक परवर्ती घटना है, फिर भी इतना निश्चित है कि तत्त्वार्थसूत्र के रचनाकाल तक अर्थात् तृतीय शताब्दी के उत्तरार्ध और चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्ध में यह अवधारणा अस्तित्व में आ गई थी। भगवती आदि में जो पूर्व संदर्भ निर्दिष्ट किए गए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल अर्थात् ई.पू. तीसरी-चौथी शती तक धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अर्थ धर्म और अधर्म की ही अवधारणाएँ थीं।

नवतत्त्व की अवधारणा

पंचास्तिकाय और षट्जीवनिकाय की अवधारणा के समान ही नवतत्त्वों की अवधारणा भी जैन परम्परा की अपनी मौलिक एवं प्राचीनतम अवधारणा है। इस अवधारणा के मूल बीज आचारांग जैसे प्राचीनतम आगम में भी मिलते हैं। उसमें सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि (मोक्ष), असिद्धि (बन्धन) आदि के अस्तित्व को मानने वाली ऐकान्तिक विचारधाराओं के उल्लेख हैं (१/८/१/२०००)। इस उल्लेख में आम्रव-संवर, पुण्य-पाप तथा बंधन-मुक्ति के निर्देश हैं, वैसे आचारांग सूत्र में जीव-अजीव,पुण्य-पाप, आम्रव-संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष - ऐसे नवों तत्त्वों के उल्लेख प्रकीर्ण रूप में मिलते हैं, किन्तु एक साथ ये नौ तत्त्व हैं - ऐसा उल्लेख नहीं है।

सूत्रकृतांग में अस्ति और नास्ति की कोटियों की चर्चा हुई है। उसमें जिन्हें अस्ति कहना चाहिए उनका निर्देश भी है। उसके अनुसार जिन तत्त्वों को अस्ति कहना चाहिए वे निम्न हैं- लोक, अलोक, जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, बन्ध,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मोक्ष, पुण्य, पाप, आम्रव, संवर, वेदना, निर्जरा, क्रिया, अक्रिया, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, चतुरंत संसार, देव, देवी, सिद्धि, असिद्धि, सिद्धनिजस्थान, साधु, असाधु, कल्याण और पाप।

इस विस्तृत सूची का निर्देश सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन में हुआ है। जहाँ जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, वेदना-निर्जरा, क्रिया-अधिकरण, बंध और मोक्ष का उल्लेख हैं। पं. दलसुखभाई मालवणिया का मानना है कि इसमें से वेदना, क्रिया और अधिकरण को निकालकर आगे नौ तत्त्वों की अवधारणा बनी होगी जिसका निर्देश हमें समवायांग (९) और उत्तराध्ययन (२८/१४) में मिलता है। उन्हीं नौ तत्त्वों में से आगे चलकर ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी में उमास्वाति ने पुण्य और पाप को आम्रव के अन्तर्गत वर्गीकृत करके सात तत्त्वों की अवधारणा प्रस्तुत की। इन सात अथवा नौ तत्त्वों की चर्चा हमें परवर्ती सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों के ग्रन्थों में मिलती है। इससे यह स्पष्ट है कि जैनों में सात तत्त्वों की अवधारणा भी पंच-अस्तिकाय की अवधारणा से ही एक कालक्रम में लगभग ईसा की तीसरी-चतुर्थ शती में अस्तित्व में आयी है। सातवीं से दसवीं शताब्दी के मध्य जो मुख्य काम इन अवधारणाओं के सन्दर्भ में हुआ वह यह कि उन्हें सम्यक् प्रकार से व्याख्यायित किया गया और उनके भेद-प्रभेद की विस्तृत चर्चा की गयी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शन में षट्द्रव्य सात या नौ तत्त्व और षट्जीव निकाय की अवधारणा का जो विकास हुआ है उसके मूल में पंचास्तिकाय की अवधारणा ही मूल है, क्योंकि नवतत्त्वों की अवधारणा के मूल में भी जीव और पुद्गल मुख्य हैं जो जीव के कर्म पुद्गलों के साथ सम्बन्ध को सूचित करते हैं। कर्म पुद्गलों का जीव की ओर आना आस्रव है, जो पुण्य या पाप रूप होता है। जीव के साथ कर्म पुद्गलों का संश्लिष्ट होना बन्ध है। कर्मपुद्गलों का आगमन रुकना संवर है और उनका आत्मा या जीव से अलग होना निर्जरा है। अन्त में कर्म पुद्गलों का आत्मा से पूर्णतः विलग होना मोक्ष है। जैन आचार्यों ने पंचास्तिकाय की अवधारणा का अन्य दर्शन परम्पराओं में विकसित द्रव्य की अवधारणा से समन्वय करके षट्द्रव्यों की अवधारणा का विकास किया। अग्रिम पंक्तियों में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि षट्द्रव्यों की अवधारणा का और विशेष रूप से द्रव्य की परिभाषा को लेकर जैन दर्शन में कैसे विकास हुआ है?

द्रव्य की अवधारणा

विश्व के मूलभूत घटक को ही सत् या द्रव्य कहा जाता है। प्राचीन भारतीय परम्परा में जिसे सत् कहा जाता था वही आगे चलकर द्रव्य के रूप में माना गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिन्होंने विश्व के मूल घटक को एक, अद्वय और अपरिवर्तनशील माना उन्होंने सत् शब्द का ही अधिक प्रयोग किया, परन्तु जिन्होंने उन्हें अनेक व परिवर्तनशील माना उन्होंने सत् के स्थान पर द्रव्य का प्रयोग किया। भारतीय चिन्तन वेदान्त में सत् शब्द का प्रयोग हुआ, जबकि उसकी स्वतन्त्र धाराओं यथा - न्याय, वैशेषिक आदि में द्रव्य और पदार्थ शब्द अधिक प्रचलन में रहा, क्योंकि द्रव्य शब्द ही परिवर्तनशीलता का सूचक है। जहाँ तक जैनदर्शन का प्रश्न है आचारांग में दवी (द्रव्य) शब्द का प्रयोग तो उपलब्ध होता है किन्तु अपने पारिभाषिक अर्थ में नहीं अपितु द्रवित के अर्थ में है। (जैनदर्शन का आदिकाल पृ. २१)

'द्रव्य' शब्द का प्रयोग प्राचीन स्तर के आगमों में सर्वप्रथम उत्तराध्ययन में मिलता है। उत्तराध्ययन के वे अध्ययन जिनमें द्रव्य का विवेचन है, अपेक्षाकृत परवर्ती माने जाते हैं। वहाँ न केवल 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग हुआ है अपितु द्रव्य, गुण और पर्याय के पारस्परिक सम्बन्ध को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। उसमें द्रव्य को गुणों का आश्रयस्थल माना गया है। मेरी दृष्टि में उत्तराध्ययन की द्रव्य की यह परिभाषा न्याय-वैशेषिक दर्शन से प्रभावित लगती है। पूज्यपाद देवनन्दी ने पाँचवी शताब्दी में अपनी तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में गुणों के समुदाय को ही द्रव्य कहा है। इसमें द्रव्य और गुण की अभिन्नता पर अधिक बल दिया गया है। पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि में उद्धृत यह चिन्तन बौद्धों के पंच स्कन्धवाद से प्रभावित है। यद्यपि यह अवधारणा पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि में ही सर्वप्रथम मिलती है, किन्तु उन्होंने "गुणानां समूहो दव्वो" इस वाक्यांश को उद्धृत किया है। अत: यह अवधारणा पाँचवीं शती से पूर्व की है। द्रव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में 'द्रव्य गुणों का आश्रयस्थान' है और 'द्रव्य गुणों का समूह है' - ये दोनों ही अवधारणाएँ मेरी दृष्टि में तीसरी शती से पूर्व की हैं। इस सम्बन्ध में जैनों की अनैकान्तिक दृष्टि से की गयी सर्वप्रथम परिभाषा हमें ईसा की चतुर्थ शती के प्रारम्भ में तत्त्वार्थसूत्र में मिलती है। जहाँ द्रव्य को गुण और पर्याययुक्त कहा गया है। इस प्रकार द्रव्य की परिभाषा के सन्दर्भ में अनैकान्तिक दृष्टि का प्रयोग सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र में मिलता है।

षट्द्रव्य

यह तो हम स्पष्ट कर चुके हैं कि षट्द्रव्यों की अवधारणा का विकास पंचास्तिकाय की अवधारणा से ही हुआ है। लगभग प्रथम-द्वितीय शताब्दी में ही पंचास्तिकायों के साथ काल को भी स्वतन्त्र द्रव्य मानकर षट्द्रव्यों की अवधारणा निर्मित हुई। यद्यपि काल स्वतन्त्र द्रव्य है या नहीं? इस प्रश्न पर लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक यह विवाद चलता रहा है, जिसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संकेत हमें तत्त्वार्थसूत्र के भाष्य मान्य पाठ से लेकर विशेषावश्यकभाष्य तक अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। किन्तु ऐसा लगता है कि सातवीं शताब्दी के पश्चात् यह विवाद समाप्त हो गया और श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में षट्द्रव्यों की मान्यता पूर्णत: स्थिर हो गई, उसके पश्चात् उसमें कहीं कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ये षट्द्रव्य निम्न हैं - धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्गल और काल। आगे चल कर इन षट्द्रव्यों का वर्गीकरण अस्तिकाय - अनस्तिकाय, चेतन-अचेतन अथवा मूर्त-अमूर्त के रूप में किया जाने लगा। अस्तिकाय और अनस्तिकाय द्रव्यों की अपेक्षा से धर्म-अधर्म, आकाश, जीव और पुद्गल इन पाँच को अस्तिकाय और काल को अनस्तिकाय द्रव्य माना गया। चेतन-अचेतन द्रव्यों की अपेक्षा से धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल को अचेतन द्रव्य और जीव को चेतन द्रव्य माना गया है। मूर्त और अमूर्त द्रव्यों की अपेक्षा से जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल को अमूर्त द्रव्य और पुद्गल को मूर्त द्रव्य माना गया है।

जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं कि विद्वानों ने यह माना है कि जैन दर्शन में द्रव्य की अवधारणा का विकास न्याय-वैशेषिक दर्शन से प्रभावित है। जैनाचार्यों ने वैशेषिक दर्शन की द्रव्य की अवधारणा को अपनी पंचास्तिकाय की अवधारणा से समन्वित किया है। अत: जहाँ वैशेषिक दर्शन में नौ द्रव्य माने गए थे वहाँ जैनों ने पंचास्तिकाय के साथ काल को जोड़कर मात्र छ: द्रव्य ही स्वीकार किए। इनमें भी जीव (आत्मा) आकाश और काल - ये तीन द्रव्य दोनों ही परम्पराओं में स्वीकृत रहे। पंचमहाभूतों, जिन्हें वैशेषिक दर्शन में द्रव्य माना गया है, में आकाश को छोड़कर शेष पृथ्वी, अप (जल), तेज (अग्नि) और मरुत् (वायु) इन चार द्रव्यों को जैनों ने स्वतन्त्र द्रव्य न मानकर जीव द्रव्य के ही भेद माना है। दिक् और मन - इन दो द्रव्यों को जैनों ने स्वीकार नहीं किया, इनके स्थान पर उन्होंने पाँच अस्तिकायों में से धर्म, अधर्म और पुद्गल ऐसे अन्य तीन द्रव्य निश्चित किए। ज्ञातव्य है कि जहाँ अन्य परम्पराओं में पृथ्वी, अप्, वायु और अग्नि इन चारों को जड़ माना गया वहाँ जैनों ने इन्हें चेतन माना। इस प्रकार जैन दर्शन की षट्द्रव्य की अवधारणा अपने आप में मौलिक है। अन्य दर्शन परम्परा से उसका आंशिक साम्य ही देखा जाता है। इसका मूल कारण यह है कि उन्होंने इस अवधारणा का विकास अपनी मौलिक पंचास्तिकाय की अवधारणा से किया है।

षट्जीवनिकाय की अवधारणा

पंचास्तिकाय के साथ-साथ षट्जीवनिकाय की चर्चा भी जैन ग्रन्थों में उपलब्ध है। ज्ञातव्य है कि पंचास्तिकाय में जीवास्तिकाय के विभाग के रूप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

षट्जीवनिकाय की यह अवधारणा विकसित हुई है। षट्जीवनिकाय निम्न हैं- पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय, तेजस्काय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय । पृथ्वी आदि के लिए 'काय' शब्द का प्रयोग प्राचीन है। दीघनिकाय में अजितकेशकम्बलिन के मत को प्रस्तुत करते हुए - पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय और वायुकाय का उल्लेख हुआ है। उसी ग्रन्थ में पकुधकच्चायन के मत के सन्दर्भ में पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु, सुख, दु:ख और जीव - इन सात कायों की चर्चा है। इससे यह फलित होता है कि पृथ्वी, अप आदि के लिये काय संज्ञा अन्य श्रमण परम्पराओं में प्रचलित थी। यद्यपि काय कौन-कौन से और कितने हैं इस प्रश्न को लेकर उनसें परस्पर मतभेद थे। अजितकेशकम्बलिन् पृथ्वी, अप, तेजस् और वायु इन चार महाभूतों को काय कहता था तो पकुधकच्चायन इन चार के साथ सुख, दु:ख और जीव इन तीन को सम्मिलित कर सात काय मानते थे। जैनों की स्थिति इनसे भिन्न थी - वे जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन पॉच को काय मानते थे, किन्तु इतना निश्चित है कि उनमें पंच अस्तिकाय और षट्जीवनिकाय की अवधारणा लगभग ई.पू. छठीं-पांचवीं शती में अस्तित्व में थी। क्योंकि आचारांग एवं सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में इन षट्जीवनिकायों का और ऋषिभाषित के पार्श्व अध्ययन में पंच अस्तिकायों का स्पष्ट उल्लेख है। इन सभी ग्रन्थों को सभी विद्वानों ने ई.पू. पांचवीं-चौथी शती का और पालित्रिपिटक के प्राचीन अंशों का समकालिक माना है। हो सकता है कि ये अवधारणायें क्रमश: पार्श्व और महावीरकालीन हों। ज्ञातव्य है कि पंचास्तिकाय की अवधारणा मूलत: पार्श्व की परम्परा की रही है- जिसे लोक की व्याख्या के प्रसंग में महावीर की परम्परा में भी मान्य कर लिया गया था। लोक के स्वरूप की व्याख्या के सन्दर्भ में महावीर ने पार्श्व की अवधारणाओं को स्वीकार किया था, ऐसा उल्लेख भगवतीसूत्र में है। अत: इसी क्रम में उन्होंने पार्श्व की पंचास्तिकाय की अवधारणा को भी मान्यता दी होगी।

मैं पं. दलसुखभाई मालवणिया के इस कथन से सहमत नहीं हूँ कि पंचास्तिकाय की परम्परा का विकास बाद में हुआ। हाँ, इतना अवश्य सत्य है कि महावीर की परम्परा में पहले षट्जीवनिकाय की ही चर्चा थी। किन्तु पार्श्व की परम्परा के महावीर की परम्परा में सम्मिलित हो जाने पर जो दार्शनिक अवधारणायें भी महावीर की परम्परा में मान्य हुई उनमें पंचास्तिकाय की अवधारणा भी थी। अत: चाहे पंचास्तिकाय की अवधारणा महावीर की परम्परा में आचारांग और सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की रचना के बाद भगवती में मान्य हुई हो, किन्तु वह है पार्श्वकालीन।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ हमारा विवेच्य षट्जीवनिकाय की अवधारणा है, जो निश्चित रूप से महावीरकालीन तो है ही और उसके भी पूर्व की हो सकती है। क्योंकि इसकी चर्चा आचारांग के प्रथम अध्ययन में है। यह तो निश्चित सत्य है कि न केवल वनस्पति और अन्य जीव-जन्तु सजीव हैं अपितु पृथ्वी, अप, तेज और वायु भी सजीव हैं, यह अवधारणा स्पष्ट रूप से जैनों की रही है। सांख्य, न्याय-वैशेषिक आदि प्राचीन दर्शन-धाराओं में इन्हें पंचमहाभूतों के रूप में जड़ ही माना गया था - जबकि जैनों में इन्हें चेतन/सजीव मानने की परम्परा रही है। पंचमहाभूतों में मात्र आकाश ही ऐसा है जिसे जैन परम्परा भी अन्य दर्शन परम्पराओं के समान अजीव (जड़) मानती है। यही कारण था कि आकाश की गणना पंचास्तिकाय में तो की गई किन्तु षट्जीवनिकाय में नहीं । जबकि पृथ्वी, अप, तेज और वायु को षट्जीवनिकाय के अन्तर्गत माना गया। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा ने पृथ्वी, जल आदि के आश्रित जीव रहते हैं- इतना ही न मानकर यह भी माना कि ये स्वयं जीव हैं। अत: जैन धर्म की साधना में और विशेष रूप से जैन मुनि आचार में इनकी हिंसा से बचने के निर्देश दिये गये हैं। जैन आचार में अहिंसा के परिपालन में जो सूक्ष्मता और अतिवादिता आयी है, उसका मूल कारण यह षट्जीवनिकाय की अवधारणा है। यह स्वाभाविक था कि जब पृथ्वी, पानी, वायु आदि को सजीव मान लिया गया तो अहिंसा के परिपालन के लिये इनकी हिंसा से बचना आवश्यक हो गया।

यह स्पष्ट है कि षट्जीवनिकाय की अवधारणा जैन दर्शन की प्राचीनतम अवधारणा है। प्राचीन काल से लेकर यह आज तक यथावत रूप से मान्य है। तीसरी शताब्दी से ईसा की दसवीं शताब्दी के मध्य इस अवधारणा में वर्गीकरण सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण मुद्दों को छोड़कर अन्य कोई मौलिक परिवर्तन हुआ हो ऐसा कहना कठिन है। इतना स्पष्ट है कि आचारांग के बाद सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के जीव सम्बन्धी अवधारणा में कुछ विकास अवश्य हुआ है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार जीवों की उत्पत्ति किस-किस योनि में होती है, तथा जब वे एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर ग्रहण करते हैं, तो अपने जन्म स्थान में किस प्रकार आहार ग्रहण करते हैं इसका विवरण सूत्रकृतांग आहार-परिज्ञा नामक द्वितीय श्रुतस्कन्ध में है। यह भी ज्ञातव्य है कि उसमें जीवों के एक प्रकार को 'अनुस्यूत' कहा गया है। सम्भवत: इसी से आगे जैनों में अनन्तकाय और प्रत्येक वनस्पति की अवधारणाओं का विकास हुआ है। दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीवों में किस वर्ग में कौन से जीव हैं यह भी परवर्ती काल में ही निश्चित हुआ। फिर भी भगवती, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना के काल तक अर्थात् ई. की तीसरी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शताब्दी तक यह अवधारणा विकसित हो चुकी थी क्योंकि प्रज्ञापना में इन्द्रिय आहार और पर्याप्ति आदि के सन्दर्भ में विस्तृत विचार होने लगा था।

ईसवीं सन् की तीसरी शताब्दी के बाद षट्जीवनिकाय में त्रस और स्थावर के वर्गीकरण को लेकर एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। आचारांग से लेकर तत्त्वार्थसूत्र के काल तक पृथ्वी, अप और वनस्पति को स्थावर माना गया था जबकि अग्नि, वायु और द्वीन्द्रिय आदि जीवों को त्रस कहा जाता था। उत्तराध्ययन का अन्तिम अध्याय, कुन्दकुन्द का पंचास्तिकाय और उमास्वाति का तत्त्वार्थसूत्र स्पष्ट रूप से पृथ्वी, अप और वनस्पति को स्थावर और अग्नि, वायु और द्वीन्द्रिय को त्रस मानता है। द्वीन्द्रिय आदि को त्रस मानने की परम्परा तो थी ही, अत: आगे चलकर सभी एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर मानने की परम्परा का विकास हुआ। यद्यपि कठिनाई यह थी कि अग्नि और वायु में स्पष्टत: गतिशीलता देखे जाने पर उन्हें स्थावर कैसे माना जाय ? प्राचीन आगमों में जहाँ पाँच एकेन्द्रिय जीवों के साथ-साथ त्रस का उल्लेख है वहां उसे त्रस और स्थावर का वर्गीकरण नहीं मानना चाहिये, अन्यथा एक ही आगम में अन्तर्विरोध मानना पड़ेगा, जो समुचित नहीं है। इस समस्या का मूल कारण यह था कि द्वीन्द्रिय आदि जीवों को त्रस नाम से अभिहित किया जाता था - अत: यह माना गया कि द्वीन्द्रिय से भिन्न सभी एकेन्द्रिय स्थावर हैं । इस चर्चा के आधार पर इतना तो मानना होगा कि लगभग छठीं शताब्दी के पश्चात् ही त्रस और स्थावर के वर्गीकरण की धारणा में परिवर्तन हुआ तथा आगे चलकर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में पंच स्थावर की अवधारणा दृढ़ीभूत हो गयी। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जब वायु और अग्नि को त्रस माना जाता था, तब द्वीन्द्रियादि त्रसों के लिए उदार (उराल) त्रस शब्द का प्रयोग होता था। पहले गतिशीलता की अपेक्षा से त्रस और स्थावर का वर्गीकरण होता था और उसमें वायु और अग्नि में गतिशीलता मानकर उन्हें त्रस माना जाता था। वायु की गतिशीलता स्पष्ट थी अत: सर्वप्रथम उसे त्रस कहा गया। बाद में सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात हुआ कि अग्नि भी ईंधन के सहारे धीरे-धीरे गति करती हुई फैलती जाती है। अत: उसे भी त्रस कहा गया। जल की गति केवल भूमि के ढलान के कारण होती है स्वत: नहीं, अत: उसे पृथ्वी एवं वनस्पति के समान स्थावर ही माना गया। किन्तु वायु और अग्नि में स्वत: गति होने से उन्हें त्रस माना गया। पुन: जब आगे चलकर द्वीन्द्रिय आदि को ही त्रस और सभी एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर मान लिया गया तो - पूर्व आगमिक वचनों से संगति बैठाने का प्रश्न आया। अत: श्वेताम्बर परम्परा में यह माना गया कि लब्धि की अपेक्षा से तो वायु एवं अग्नि स्थावर हैं, किन्तु गति की अपेक्षा से उन्हें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्रस कहा गया है। दिगम्बर परम्परा में धवला टीका (१०वीं शती) में इसका समाधान यह कह कर किया गया कि वायु एवं अग्नि को स्थावर कहे जाने का आधार उनकी गतिशीलता न होकर स्थावर नामकर्म का उदय है। दिगम्बर परम्परा में ही कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने यह समन्वय निश्चय और व्यवहार के आधार पर किया है। वे लिखते हैं - पृथ्वी, अप और वनस्पति ये तीन स्थावर नामकर्म के उदय से स्थावर कहे जाते हैं; किन्तु वायु और अग्नि पंच स्थावर में वर्गीकृत किये जाते हुए भी चलन क्रिया दिखाई देने से व्यवहार से त्रस कहे जाते हैं। वस्तुतः यह सब प्राचीन और परवर्ती ग्रन्थों में जो मान्यताभेद आ गया था उससे संगति बैठाने का एक प्रयत्न था।

जहाँ तक जीवों के विविध वर्गीकरणों का प्रश्न है, निश्चय ही ये सब वर्गीकरण ई. सन् की दूसरी-तीसरी शती से लेकर दसवीं शती तक की कालावधि में स्थिर हुए हैं। इस काल में जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान आदि अवधारणाओं का विकास हुआ है। भगवती जैसे अंग आगमों में जहाँ इन विषयों की चर्चा है वहाँ प्रज्ञापना आदि अंगबाह्य ग्रन्थों का निर्देश हुआ है। इससे स्पष्ट है कि ये विचारणाएँ ईसा की प्रथम-द्वितीय शती के बाद ही विकसित हुईं। ऐसा लगता है कि प्रथम अंग बाह्य आगमों में उनका संकलन किया गया है और फिर माथुरी एवं वलभी वाचनाओं के समय उन्हें अंग आगमों में समाविष्ट कर इनकी विस्तृत विवेचना को देखने के लिए तद्तद् ग्रन्थों का निर्देश कर दिया गया।

इस प्रकार जैन साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर माना जा सकता है कि जैन तत्त्वमीमांसा का कालक्रम में विकास हुआ है। यद्यपि परम्परागत मान्यता जैन दर्शन को सर्वज्ञ प्रणीत मानने के कारण इस ऐतिहासिक विकासक्रम को अस्वीकार करती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन में मोक्ष की अवधारणा

भारतीय धर्मों एवं दर्शनों का मुख्य प्रयोजन मोक्ष की प्राप्ति है। भारतीय चिन्तकों ने मोक्ष को ही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ माना है। समस्त साधनाएँ मोक्ष के निमित्त ही की जाती हैं। मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, परमपद, शिवपद, परमात्मपद, सिद्धपद, परमधाम आदि उसी के पर्यायवाची नाम हैं। मोक्ष या निर्वाण के सम्बन्ध में साध्यगत समानता होते हुए भी भारतीय चिन्तकों में जो स्वरूपगत मतवैभिन्य देखा जाता है, उसका कारण मोक्षतत्त्व नहीं, अपितु हमारी भाषागत और ज्ञानगत सीमितता ही होती है। जिस प्रकार एक ही भवन के विविध कोणों से लिये गये चित्र भिन्न-भिन्न होकर भी उसी तथ्य को उजागर करते हैं, वैसे ही मोक्ष सम्बन्धी विभिन्न विवरण भी अपने वैविध्य के बावजूद उसी सत्य को उजागर करते हैं। सत्य तो यह है कि परमतत्त्व हमारी शब्द सीमा से परे है, वर्णनातीत है, अनिर्वचनीय है, अवाच्य है। जब भी उसे शब्दों की सीमा में बाँधने का कोई प्रयत्न होता है, असीम और अनन्त को भाषा के द्वारा वाच्य बनाने का कोई प्रयास होता है तब हमारी भाषा की सीमा के कारण समग्र सत्य तो कहीं बाहर ही छूट जाता है। अनुभूति को जब भी भाषा के सहारे अभिव्यक्ति दी जाती है तो वह मात्र सीमित या सापेक्ष ही नहीं, वरन एक प्रतिभास बनकर रह जाती है। इतना ही नहीं, वे शब्द चित्र भी उस अनुभूति को अभिव्यक्ति देने में असमर्थ होते हैं। व्यावहारिक जीवन में भी हम देखते हैं कि अनेक लोगों ने गुड़ के स्वाद की अनुभूति की होती है, किन्तु जब वे शब्दों के सहारे उसके यथार्थ स्वाद को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न करते हैं तो उसमें वैविध्य होता है। चाहे कोई गुड़ के स्वाद पर पी-एच.डी. का शोध-प्रबन्ध भी लिख दे, किन्तु यह सत्य समझ लेना है कि उसे पढ़कर भी कोई उस अनुभूति को पाने में समर्थ नहीं हो सकता।

मोक्ष या मुक्ति भी एक अनुभूति है। शब्दों के माध्यम से उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहने का प्रयत्न ठीक वैसा ही होता है जैसे कोई नक्शे के माध्यम से हिमालय की ऊँचाई या गंगा की गहराई को समझाने का प्रयत्न करे। नक्शे के तथ्य को समझाने का सार्थक प्रयत्न तो कहा जा सकता है, किन्तु उन्हें सत्य समझ लेना भ्रान्ति को ही जन्म देता है। शब्द सत्य की ओर इशारा (संकेत) कर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकते हैं, उसे कह नहीं सकते (लक्ष्यते न तु उच्चयते)। आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के पंचम अध्याय (१/५/६/१७१) में इसलिए कहा गया है कि "उस परमात्म पद का निर्वचन करने में शब्द समर्थ नहीं हैं, सारे स्वर वहाँ से लौट आते हैं, तर्क की भी वहाँ कोई गति नहीं है, मति (बुद्धि) उसे पकड़ पाने में असमर्थ है, उस अपद का कोई पद नहीं है अर्थात् कोई भी शब्द उसे वाच्य बनाने में समर्थ नहीं है, ऐसी कोई उपमा भी नहीं है जिसके माध्यम से उसे बताया जा सकता है।" उसके स्वरूप के निर्वचन में वाणी की असमर्थता को स्वीकार करनी ही होती है, क्योंकि अनुभूति मात्र अनुभूति है उसे अभिव्यक्ति देना सम्भव नहीं है। इसलिए जब उसके वर्णन का प्रश्न आया तो प्राय: शास्त्रों ने निषेध मुख से इतना ही कहा कि मोक्षावस्था में समस्त कर्मों का क्षय हो जाने से मुक्तात्मा में समस्त कर्मजन्य उपाधियों का भी अभाव होता है; अत: मुक्तात्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्ताकार है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है, न परिमण्डल संस्थान वाला है। वह कृष्ण, नील, पीत, रक्त और श्वेत वर्ण वाला भी नहीं है। वह सुगन्ध और दुर्गन्ध वाला भी नहीं है। न वह तीक्ष्ण, कटुक, खट्टा, मीठा एवं अम्ल रस वाला है। उसमें गुरू, लघु, कोमल, कठोर, स्निग्ध, रुक्ष, शीत एवं उष्ण आदि स्पर्श गुणों का भी अभाव है। वह न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है (आचारांग १/५/६/१७१)। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, "मोक्षदशा में न सुख है, न दु:ख है, न पीड़ा है, न बाधा है, न जन्म है, न मरण है, न वहाँ इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग है, न मोह है, न व्यामोह है, न निद्रा है, न वहाँ चिन्ता है, न आर्त और रौद्र विचार ही हैं। वहाँ तो शुभ और अशुभ विचारों का भी अभाव है (नियमसार १७८-१७९)।" मोक्षावस्था तो सर्व संकल्पों का अभाव है। वह बुद्धि और विचार का विषय नहीं है, वह पक्षातिक्रान्त है। इस प्रकार मुक्तावस्था का निषेधात्मक विवेचन भी उसकी अनिर्वचनीयता को बताने के लिए है। उपनिषदों में इसी लिये यह कहा गया है कि वह तर्क, बुद्धि ओर मन का विषय नहीं है (तैत्तिरीय २/९, मुण्डक ३/१/८), क्योंकि ये सभी विकल्पात्मक हैं जबकि वह तो निर्विकल्प है, निर्विकल्प को विकल्पों का विषय कैसे बनाया जा सकता है? भाषा भी अस्ति और नास्ति के विकल्पों से सीमित है अत: मोक्ष का कोई भी निर्वचन सम्भव नहीं है। निर्वाण की अभावात्मक व्याख्या के सम्बन्ध में उदान (८/१०) में निम्न बुद्धवचन हैं- "लोहे के घन की चोट पड़ने पर जो चिनगारियाँ उठती हैं वे तुरन्त ही बुझ जाती हैं। कहाँ गईं कुछ पता नहीं चलता। इसी प्रकार काम बन्धन से मुक्त हो निर्वाण प्राप्त पुरुष की गति का कोई भी पता नहीं लगा सकता।" फिर भी इन निषेधमूलक विवरणों से यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझ लेना मूर्खता ही होगी कि मोक्ष, मुक्ति या निर्वाण कोई भावात्मक तथ्य नहीं है। व्यक्ति में जो अनन्त और असीम को पाने की ललक है। विकल्पों और विचारों के संकुल इस संसार से निर्विचार और निर्विकल्प में जाने की जो अभीप्सा है, प्यास है वही मोक्ष या निर्वाण की सार्थकता है। मनुष्य में अपनी चैतसिक क्षुद्रताओं, वासनाओं और विकारों से ऊपर उठकर आत्मिक रूप से स्वस्थ होने की जो एक प्रेरणा है, विभाव से स्वभाव में आने की जो सतत प्रयत्नशीलता है- ये सभी इस तथ्य की सूचक हैं कि मोक्ष अभाव रूप न होकर एक भावात्मक अवस्था है। बीमारी का अभाव स्वास्थ्य की भावात्मक सत्ता को सिद्ध करता है। मोक्ष आत्मपूर्णता है, आत्म-साक्षात्कार है। सीमा को जानने में सीमापारी का अवबोध आवश्यक है। जब चेतना विकल्पों, विचारों, इच्छाओं, वासनाओं और आकांक्षाओं के उस पार चली जाती है, जब चेतना मैं और मेरे के क्षुद्र घेरे को तोड़कर असीम और अनन्त में निमज्जन कर लेती है तो वह मोक्ष या निर्वाण को उपलब्ध हो जाती है, वह स्वयं असीम और अनन्त हो जाती है। मुक्ति या निर्वाण अन्य कुछ नहीं है, वह सीमाओं का, आवरणों का, ममता के घेरे का टूट जाना है। अत: मोक्ष या निर्वाण एक भावात्मक सत्ता भी है। यह सत्य है कि उसे वाच्य नहीं बनाया जा सकता किन्तु उसे अनुभूत तो किया ही जा सकता है, वह चाहे अभिलाप्य न हो लेकिन अनुभूति तो है ही। हमें यह भी ध्यान रखना है कि निर्वाण या मोक्ष कोई ऐसी वस्तु भी नहीं है, जिसकी अनुभूति इस जीवन से परे किसी अन्य लोक और अन्य जीवन में सम्भव होती हो, उसकी अनुभूति तो इसी जीवन में और इसी लोक में करनी होती है।

वस्तुत: साधना पद्धतियों के रूपों में या धर्मों में वैविध्य हो सकता है, किन्तु उन सब में मोक्ष रूपी साध्यगत समरूपता भी है। जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र की ओर गतिशील होती हैं उसी प्रकार सभी धर्म मोक्ष या परमात्म-दशा की ओर गतिशील हैं। जिस प्रकार बीमारियाँ भिन्न होती हैं और उनके कारण उनकी चिकित्सा विधि, औषधि और पथ्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं, किन्तु उनके परिणाम स्वरूप उपलब्ध स्वास्थ्य एक ही रूप होता है। जिस प्रकार बीमारियों में तरतमता होती है, विभिन्नताएँ होती हैं, उसी प्रकार चैतसिक विकृतियों में भी उनके राग, द्वेष, मोह और कषाय (क्लेश) रूप कारकों की अपेक्षा भिन्नता होती है। किन्तु साधना पद्धतियों में रही हुई भिन्नता, उनके साध्य की भिन्नता का आधार नहीं है, मोक्ष या निर्वाण तो एक रूप ही होता है। वह तो आत्मपूर्णता की स्थिति है, उसमें तरतमता या वैविध्य नही है। सभी मुक्त आत्माएँ समान हैं, उनमें कोई तरतमता नहीं है, छोटी-बड़ी नहीं हैं, ऊँच-नीच नहीं हैं, स्वामी-सेवक भाव नहीं हैं। वैविध्य तो संसार दशा में है, मुक्ति में नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चैतसिक विकृतियों के कारणगत और स्वरूपगत वैविध्य के कारण उनकी चिकित्सा रूप धर्म में वैविध्य हो सकता है किन्तु उस चिकित्सा के फलस्वरूप पुन: उपलब्ध स्वास्थ्य तो एक ही रूप होता है। उसी प्रकार धर्म या साधना पद्धतियों का वैविध्य साक्ष्य रूप मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण के वैविध्य का कारण नहीं है। अत: विविध परम्पराओं की मोक्ष की अवधारणा कहने भर को ही भिन्न-भिन्न होती है, उसमें स्वरूपगत भेद नहीं है। अत: जैन, बौद्ध, हिन्दू या सिख धर्मों के मोक्ष के विवरण में भेद प्रतीतिरूप भेद है अनुभूतिरूप भेद नहीं है। जैसे दस व्यक्ति गुड़ का स्वाद चखें - उनकी अनुभूति समान होती है, भेद मात्र भाषागत अभिव्यक्ति में होता है।

मोक्ष का अर्थ है - ज्ञेयावरण और क्लेशावरण कर्मों का नष्ट हो जाना, उन कर्मों का आवरण हट जाना। चेतना का विक्षोभों, विकारों, विचारों और विकल्पों से मुक्त हो जाना। वह ममत्व और कर्ता भाव से ऊपर उठकर वीतराग, वीततृष्ण और अनासक्त अवस्था की प्राप्ति है, इसे सभी धर्म और दर्शनों ने स्वीकार किया है। संक्षेप में कहें तो वह आत्मोपलब्धि है, स्व-स्वरूप में अवस्थिति है। ज्ञाता-द्रष्टा भाव में जीना है।

मोक्ष कोई ऐसी वस्तु भी नहीं है, जो पूर्व में अनुपलब्ध थी और बाद में उसे पाया गया हो। जिस प्रकार स्वास्थ्य कोई ऐसी बाह्य वस्तु नहीं है जिसे पाया जाता है, वह तो बीमारी या विकृति के हटने का नाम है, वैसे ही मोक्ष या निर्वाण भी वासना या विकारों का शान्त हो जाना है। वह अनुपलब्ध की उपलब्धि नहीं है, अपितु उपलब्ध की ही पुन: उपलब्धि है। स्वास्थ्य पाया नहीं जाता है, मात्र बिमारी या विकृति को हटाने पर उपलब्ध होता है। जिस प्रकार सूर्य सदा प्रकाशित है, प्रकाश की उपलब्धि के लिए मात्र बादलों के आवरण हटना जरूरी है। उसी प्रकार चेतना को विक्षोभित और विद्रूपित करनेवाले तत्त्वों या कर्मरूपी आवरण का हट जाना ही हमारी मुक्ति है। चेतना निर्मल और प्रशान्त रहे यही मुक्ति का अर्थ है। पारलौकिक जीवन तो मात्र उस परम विशुद्ध अवस्था का परिचायक है, किन्तु उस अवस्था की उपलब्धि तो इसी जीवन में करनी होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिनप्रतिमा का प्राचीन स्वरूप एक समीक्षात्मक चिन्तन

'जिनभाषित' मई २००३ के अंक में 'दिगम्बरों की जिन प्रतिमा की पहचान के प्रमाण' नामक सम्पादकीय आलेख के साथ-साथ डॉ. नीरज जैन का लेख 'दिगम्बर प्रतिमा का स्वरूप : स्पष्टीकरण' तथा 'दिगम्बर प्रतिमा का स्वरूप : स्पष्टीकरण की समीक्षा' के रूप में पण्डित मूलचंद जी लुहाड़िया के लेख देखने को मिले।

उक्त तीनों ही आलेखों के पढ़ने से ऐसा लगता है कि ऐतिहासिक सत्यों और उनके साक्ष्यों को एक ओर रखकर केवल साम्प्रदायिक आग्रहों से ही हम तथ्यों को समझने का प्रयत्न करते हैं। यह तथ्य न केवल इन आलेखों से सिद्ध होता है अपितु उनमें जिन श्वेताम्बर आचार्यों और उनके ग्रन्थों के सन्दर्भ दिये गये हैं, उससे भी यही सिद्ध होता है। पुन: किसी प्राचीन स्थिति की पुष्टि या खण्डन के लिए जो प्रमाण दिये जाएं उनके सम्बन्ध में यह स्पष्ट होना चाहिए कि समकालिक या निकट पश्चात्कालीन प्रमाण ही ठोस होते हैं। प्राचीन प्रमाणों की उपेक्षा कर परवर्ती कालीन प्रमाण देना या पुरातात्त्विक प्रमाणों की उपेक्षा कर परवर्ती साहित्यिक प्रमाणों को सत्य मान लेना सम्यक् प्रवृत्ति नहीं हैं। आदरणीय नीरज जी, लुहाड़िया जी एवं डॉ. रतनचन्द्र जी जैन विद्या के गम्भीर विद्वान हैं। उनमें भी नीरज जी तो जैन पुरातत्त्व के भी तलस्पर्शी विद्वान हैं। उनके द्वारा प्राचीन प्रमाणों की उपेक्षा हो, ऐसा विश्वास भी नहीं होता। ये लेख निश्चय ही साम्प्रदायिक विवादों से उपजी उनकी चिंताओं को ही उजागर करते हैं। वस्तुत: वर्तमान में मंदिर एवं मूर्तियों के स्वामित्व के जो विवाद गहराते जा रहे हैं, वही इन लेखों का कारण हैं। किन्तु हम इनके कारण सत्य से मुख नहीं मोड़ सकते। इन लेखों में जो प्रमाण प्रस्तुत किए गए हैं, उन्हें पूर्वकालीन स्थिति में कितना प्रामाणिक माना जाये, यह एक विचारणीय मुद्दा है। सबसे पहले उनकी प्रामाणिकता की ही समीक्षा करना आवश्यक है। यहाँ मैं जो भी चर्चा करना चाहूँगा वह विशुद्ध रूप से जैन संस्कृति के इतिहास की दृष्टि से करना चाहूँगा। यहाँ मेरा किसी परम्परा विशेष को पुष्ट करने या खण्डित करने का कोई अभिप्राय नहीं है। मेरा मुख्य अभिप्राय केवल जिन प्रतिमा के स्वरूप के सन्दर्भ में ऐतिहासिक सत्यों को उजागर करना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने सम्पादकीय में प्रो. रतनचन्द्र जैन ने सर्वप्रथम विशेषावश्यक-भाष्य का निम्न सन्दर्भ प्रस्तुत किया है:-

'जिनेन्द्रा अपि न सर्वथैवाचेलका:'

'सव्वे वि एग दूसेणनिग्गया जिनवरा चउव्वीसं'

- इत्यादि वचनात् (विशेषावश्यक-भाष्य वृत्ति सह गाथा -२५५१) जब साक्षात् तीर्थंकर देवदुष्य-वस्त्र युक्त होते हैं तो उनकी प्रतिमा भी देवदुष्य युक्त होनी चाहिए।

प्रस्तुत सन्दर्भ वस्तुत: लगभग छठीं शताब्दी का है। यह स्पष्ट है कि छठीं शताब्दी में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा एक दूसरे से पृथक हो चुकी थी। प्रस्तुत गाथा और उसकी वृत्ति ही नहीं, यह सम्पूर्ण ग्रन्थ ही श्वेताम्बर मान्यताओं का सम्पोषक है, चाहे आचारांग का यह कथन सत्य हो कि भगवान महावीर ने दीक्षित होते समय एक वस्त्र ग्रहण किया था, किन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि उन्होंने तेरह माह के पश्चात् उस वस्त्र का परित्याग कर दिया था। उसके पश्चात् वे आजीवन अचेल ही रहे। किन्तु पार्श्व के सम्बन्ध में विशेषावश्यक-भाष्य का यह कथन स्वयं उत्तराध्ययन से ही खण्डित हो जाता है कि पार्श्व भी एक ही वस्त्र लेकर दीक्षित हुए थे। वस्त्र के सम्बन्ध में पार्श्व की परम्परा सन्तरोत्तर थी अर्थात् पार्श्व की परम्परा के मुनि एक अधोवस्त्र (अंतर-वासक) और एक उत्तरीय ऐसे दो वस्त्र धारण करते थे। यहाँ यह भी मानना बुद्धिगम्य नहीं लगता कि किसी भी तीर्थंकर की शिष्य परम्परा अपने गुरु से भिन्न आचार का पालन करती हो। अत: श्वेताम्बरों का यह कहना कि गौतम आदि महावीर की परम्परा के गणधर सवस्त्र थे, सत्य प्रतीत नहीं होता, इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा की यह मान्यता कि सारे तीर्थंकर एवं उनके शिष्य अचेल ही थे, विश्वसनीय नहीं लगता। चाहे भगवान महावीर ने मुनियों की निम्न श्रेणी के रूप में ऐलकों और क्षुल्लकों की व्यवस्था की हो और ऐलकों को एक वस्त्र तथा क्षुल्लकों को दो वस्त्र रखने की अनुमति दी हो तथा इसी सम्बन्ध में सामायिक-चारित्र और छेदोपस्थापनीय-चारित्र (महाव्रतारोपण) ऐसी द्विविध चारित्र की व्यवस्थाएं दी हों, फिर भी यह सम्भव है कि भगवान महावीर ने सवस्त्र मुनियों को मुनिसंघ में बराबरी का दर्जा नहीं दिया हो। यह बात स्वयं श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित सामायिक-चारित्र और छेदोपस्थापनीय-चारित्र की अवधारणा से भी सिद्ध होती है। श्वेताम्बरों में जिनकल्प और स्थविरकल्प की अवधारणा तथा दिगम्बर परम्परा में क्षुल्लक, ऐलक एवं अचेल मुनि के भेद यही सिद्ध करते हैं। यहाँ हम इस चर्चा में न

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उतरकर केवल यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे कि विशेषावश्यकभाष्य मूलत: श्वेताम्बर परम्परा के दृष्टिकोण का सम्पोषक है, उसके रचनाकाल तक अर्थात् छठीं-सातवीं शती तक तीर्थंकरों की श्वेताम्बर मान्यता के अनुरूप मूर्तियाँ बनना प्रारम्भ हो गई थीं। अकोटा की ऋषभदेव की प्रतिमा इसका प्रमाण है। अत: उसके कथनों को पूर्वकालीन स्थितियों के संदर्भ में प्रमाण नहीं माना जा सकता। श्वेताम्बर परम्परा का यह कथन कि सभी तीर्थंकर एक देवदूष्य वस्त्र लेकर दीक्षित होते हैं और दिगम्बर परम्परा का यह कथन कि सभी तीर्थंकर अचेल होकर दीक्षित होते हैं- साम्प्रदायिक मान्यताओं के स्थिरीकरण के बाद के कथन हैं। ये प्राचीन स्थिति के परिचायक नहीं हैं। नि:सन्देह महावीर अचेलता के ही पक्षधर थे, चाहे आचारांग के अनुसार उन्होंने एक वस्त्र लिया भी हो, किन्तु निश्चय तो यही किया था कि मैं इसका उपयोग नहीं करूंगा - जिसे श्वेताम्बर भी स्वीकार करते हैं। मात्र यही नहीं, श्वेताम्बर मान्यता यह भी स्वीकार करती है कि उन्होंने तेरह माह पश्चात् उस वस्त्र का भी त्याग कर दिया और फिर अचेल ही रहे। महावीर की अचेलता के कारण ही प्राचीन तीर्थंकर मूर्तियाँ अचेल बनीं । पुन: चूंकि उस काल में बुद्ध की मूर्ति सचेल ही बनती थी, अत: परम्परा का भेद दिखाने के लिए भी तीर्थंकर प्रतिमाएँ अचेल ही बनती थीं।

प्रो. रतनचन्द्रजी जैन ने दूसरा प्रमाण श्वेताम्बर मुनि कल्याणविजयजी के "पट्टावलीपराग" से दिया है। वस्तुत: मुनि कल्याणविजयजी का यह उल्लेख भी श्वेताम्बर पक्ष की पुष्टि के सन्दर्भ में ही है। उनका यह कहना कि वस्त्र भी इतनी सूक्ष्म रेखाओं से दिखाया जाता था कि ध्यान से देखने से ही उसका पता लगता था, यह बात केवल अपने सम्प्रदाय की मान्यता को पुष्ट करने के लिए कही गई है। प्राचीन मूर्तियों में ही नहीं, वर्तमान श्वेताम्बर मूर्तियों में भी सूक्ष्म रेखा द्वारा उत्तरीय को दिखाने की कोई परम्परा नहीं है, मात्र कटिवस्त्र दिखाते हैं। यदि यह परम्परा होती तो वर्तमान में भी श्वेताम्बर मूर्तियों में वामस्कंध से वस्त्र को दिखाने की व्यवस्था प्रचलित रहती। वस्तुत: प्रतिमा पर वामस्कन्ध से वस्त्र दिखाने की परम्परा बौद्धों की रही है और ध्यानस्थ बुद्ध और जिन प्रतिमा में अन्तर इसी आधार पर देखा जाता है। अत: जिन प्रतिमा के स्वरूप के सम्बन्ध में मुनि कल्याणविजयजी का कथन भी प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार प्रो. रतनचन्द्रजी ने "प्रवचनपरीक्षा" का एक उद्धरण भी दिया है। उनका यह कथन कि जिनेन्द्र भगवान का गुह्य प्रदेश शुभ प्रभामण्डल के द्वारा वस्त्र के समान ही आच्छादित रहता है और चर्मचक्षुओं के द्वारा दिखाई नहीं देता। वस्तुत: तीर्थंकरों के सम्बन्ध में यह कल्पना अतिशय के रूप में ही की जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लेकिन चाहे श्वेताम्बर परम्परा हो या दिगम्बर परम्परा, अतिशयों की यह कल्पना तीर्थंकरों के वैशिष्ट्य को ही सूचित करने के लिए प्रचलित हुई है। फिर चाहे यह बात तीर्थंकर के सम्बन्ध में सत्य हो किन्तु मूर्ति के सम्बन्ध में सत्य नहीं है। वैज्ञानिक सत्य यह है कि यदि मूर्ति नग्न है तो वह नग्न ही दिखाई देगी। किन्तु प्रवचनपरीक्षा में उपाध्याय धर्मसागरजी का यह कथन कि "गिरनार पर्वत के स्वामित्व को लेकर जो विवाद उठा उसके पूर्व पद्मासन की जिनप्रतिमाओं में न तो नग्नत्व का प्रदर्शन होता था और न वस्त्र चिन्ह बनाया जाता था, समीचीन लगता है।" अत: प्राचीन काल की श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं की प्रतिमाओं में भेद नहीं होता था। उनका यह कथन इस सत्य को तो प्रमाणित करता है कि पूर्व काल में जिन प्रतिमाओं में श्वेताम्बर और दिगम्बर का भेद नहीं होता था किन्तु हमें यह भी समझना होगा कि भेद तो तभी हो सकता था, जब दोनों सम्प्रदाय पूर्वकाल में अस्तित्व में होते।

मथुरा की मूर्तियों तथा एक हल्सी के अभिलेख से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि संघभेद के पश्चात् भी कुछ काल तक मंदिर व मूर्तियाँ अलग-अलग नहीं होते थे। अभी तक उपलब्ध जो भी साक्ष्य हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर प्रतिमाओं में स्वरूप भेद लगभग छठीं शताब्दी से अस्तित्व में आया। अकोटा की धातु मूर्ति के पूर्व वस्त्र युक्त श्वेताम्बर मूर्तियों के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। यद्यपि छठी शताब्दी से श्वेताम्बर दिगम्बर मूर्तियाँ अलग-अलग होने लगी, किन्तु उस समय जो भी प्राचीन तीर्थ क्षेत्र थे उनमें जो प्राचीन मूर्तियाँ थीं, वे यदि पद्मासन की मुद्रा में होती थीं तो उनमें लिंग बनाने की परम्परा नहीं थी और यदि वे खड्गासन की मुद्रा में होती थीं तो स्पष्ट रूप से उनमें लिंग बनाया जाता था। हाँ, यह अवश्य सत्य है कि परवर्ती काल के श्वेताम्बर आचार्य भी उन नग्न मूर्तियों का दर्शन, वन्दन आदि करते थे।

प्रो. रतनचन्द्रजी ने बीसवीं शताब्दी के स्थानकवासी आचार्य आत्मारामजी और हस्तीमलजी के ग्रंथों से भी उद्धरण प्रस्तुत किए हैं। लेकिन ये उद्धरण भी प्रमाण रूप में स्वीकार नहीं किए जा सकते, क्योंकि आचार्य आत्मारामजी एवं आचार्य हस्तीमलजी ने जो कुछ लिखा है वह अपनी अमूर्तिपूजक साम्प्रदायिक मान्यता की पुष्टि हेतु ही लिखा है। पुन: बीसवीं शताब्दी के किसी आचार्य के द्वारा जो कुछ लिखा जाये वह पूर्व काल के सन्दर्भ में पूरी तरह प्रमाणित हो, यह आवश्यक नहीं होता। जहाँ तक आचार्य हस्तीमलजी के उद्धरण का प्रश्न है, वे स्थानकवासी अमूर्तिपूजक परम्परा के आचार्य थे । उन्होंने जैन धर्म के मौलिक इतिहास में जो कुछ लिखा है वह अपनी परम्परा को पुष्ट करने की दृष्टि से ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिखा है अत: निष्पक्ष इतिहास की दृष्टि से उनके कथन भी प्रमाण रूप से ग्राह्य नहीं हो सकते। अब हम जिन प्रतिमाओं के सम्बन्ध में विचार करने जा रहे हैं उनकी प्राचीन स्थिति क्या थी, इसे कुछ पुरातात्त्विक अभिलेखीय साक्ष्यों से सिद्ध करेंगे।

कंकाली टीले से प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्री और शिलालेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी से ही वहाँ जिनमूर्तियाँ निर्मित हुई हैं और वे प्रतिमाएँ आज भी उपलब्ध हैं । आचार्य हस्तीमलजी का यह कथन कि आचार्य नागार्जुन आदि यदि मूर्तिपूजा के पक्षधर होते तो उनके द्वारा प्रतिस्थापित मूर्तियाँ और मन्दिरों के अवशेष कहीं न कहीं अवश्य उपलब्ध होते। किन्तु नागार्जुन के नाम का यदि कोई मूर्तिलेख उपलब्ध न हो, तो इससे यह निर्णय तो नहीं निकाला जा सकता कि जैन संघ में इसके पूर्व मूर्तिपूजा का प्रचलन नहीं था। श्वेताम्बर आगमसाहित्य में विशेष रूप से कल्पसूत्र-स्थविरावली में उल्लेखित गण, शाखा और कुलों के अनेक आचार्यों की प्रेरणा से स्थापित अभिलेख युक्त अनेक मूर्तियाँ मथुरा के कंकाली टीले से ही उपलब्ध हैं। आचार्य श्री हस्तीमलजी का 'कलिंगजिन' को 'कलिंगजन' पाठ मानना भी उचित नहीं हैं। पटना के लोहानीपुर क्षेत्र से मिली जिन प्रतिमा इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि जैन परम्परा में महावीर के निर्वाण के लगभग १५० वर्ष पश्चात् ही जिन प्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। साथ ही यह भी सत्य है कि ईसवी पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी से लेकर ईसा की छठी शताब्दी तक श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यताओं के अनुरूप अलग-अलग प्रतिमाओं का निर्माण नहीं होता था। श्वेताम्बर दिगम्बर परम्परा के भेद के बाद भी लगभग चार सौ साल का इतिहास यही सूचित करता है कि वे सब एक ही मंदिर में पूजा उपासना करते थे। हल्सी के अभिलेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ श्वेतपट्ट महाश्रमण संघ, निग्रन्थ महाश्रमण संघ और यापनीय संघ तीनों ही उपस्थित थे, किन्तु उनके मंदिर और प्रतिमाएँ भिन्न-भिन्न नहीं थे। राजा ने अपने दान में यह उल्लेख किया है कि इस ग्राम की आय का एक भाग जिनेन्द्रदेवता के लिए, एक भाग श्वेतपट्ट महाश्रमण संघ हेतु और एक भाग निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ के हेतु उपयोग किया जाए। यदि उनके मंदिर व मूर्ति भिन्न-भिन्न होते, तो ऐसा उल्लेख सम्भव नहीं होता। भाई रतनचन्द जी का यह कथन सत्य है कि ईसा की छठीं शताब्दी से पहले जितनी भी जिन प्रतिमायें उपलब्ध हुई हैं, वे सब सर्वथा अचेल और नग्न हैं। उनका यह कथन भी सत्य है कि सवस्त्र जिन प्रतिमाओं का अंकन लगभग छठी-सातवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ होता है। किन्तु इसके पूर्व की स्थिति क्या थी, इस सम्बन्ध में वे प्राय: चुप हैं। यदि श्वेताम्बर परम्परा का अस्तित्व उसके पूर्व में भी था तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे किन प्रतिमाओं की पूजा करते थे? या तो हम यह मानें कि छठीं-सातवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर परम्परा का अस्तित्व ही नहीं था, किन्तु इस मान्यता के विरोध में भी अनेक पुरातात्त्विक एवं साहित्यिक साक्ष्य जाते हैं। यह तो स्पष्ट है कि जैन संघ में भद्रबाहु और स्थूलिभद्र के काल से मान्यता और आचार भेद प्रारम्भ हो गए थे और महावीर के संघ में क्रमशः वस्त्र-पात्र आदि का प्रचलन भी बढ़ रहा था। इस सम्बन्ध में मथुरा के कंकाली टीले के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। कंकाली टीले के ईसवी पूर्व प्रथम सदी से लेकर ईसा की प्रथम द्वितीय सदी तक के जो पुरातात्त्विक साक्ष्य हैं, उनमें तीन बातें बहुत स्पष्ट हैं :-

१. जहाँ तक जिनमूर्तियों का सम्बन्ध है जो खड्गासन की जिन प्रतिमाएँ हैं उनमें स्पष्ट रूप से लिंग का प्रदर्शन है, पद्मासन की जो प्रतिमाएँ हैं उनमें न तो लिंग का अंकन है न ही वस्त्र अंचल का अंकन। सामान्य दृष्टि से ये प्रतिमाएँ अचेल हैं।

२. किन्तु इन प्रतिमाओं के नीचे जो अभिलेख उपलब्ध हैं और उनमें जिन आचार्यों के नाम, कुल, शाखा एवं गण आदि के उल्लेख हैं वे सभी प्रायः श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य कल्पसूत्र की स्थविरावली के अनुरूप हैं। कल्पसूत्र की स्थविरावली में वर्णित कुल, शाखा एवं गण को एवं उसमें वर्णित आचार को श्वेताम्बर अपनी पूर्व परम्परा ही मानते हैं। यह भी सत्य है कि दिगम्बर परम्परा उन कुल, शाखा, गण और आचार्यों को अपने से सम्बद्ध नहीं मानती।

३. इसके अतिरिक्त जो विशेष महत्त्वपूर्ण तथ्य है वह यह कि अनेक तीर्थंकर प्रतिमाओं की पादपीठ पर धर्मचक्र के अंकन के साथ-साथ चतुर्विध संघ का अंकन भी उपलब्ध है, उसमें साध्वी मूर्तियां तो सवस्त्र प्रदर्शित हैं किन्तु जहाँ तक मुनि मूर्तियों का प्रश्न है वे नग्न हैं, किन्तु उनके हाथों में सम्पूर्ण कम्बल तथा मुख वस्त्रिका प्रदर्शित है। कुछ मुनि मूर्तियाँ ऐसी भी उपलब्ध होती हैं जिनके हाथों में पात्र प्रदर्शित है। एक मुनि मूर्ति इस रूप में भी उपलब्ध है कि वह नग्न है किन्तु उसके एक हाथ में प्रतिलेखन और दूसरे हाथ में श्वेताम्बर समाज में आज भी प्रचलित पात्र युक्त झोली है। इन मुनि मूर्तियों को सर्वथा अचेल परम्परा की भी नहीं माना जा सकता, वस्तुतः ये श्वेताम्बर परम्परा के विकास की पूर्व स्थिति की सूचक हैं तथा उसके द्वारा प्रतिस्थापित, वंदनीय एवं पूज्य रही हैं। ये मूर्तियाँ निश्चित रूप से अचेल हैं। पुनः यदि श्वेताम्बर उनके प्रतिष्ठाप्रक आचार्यों को अपना मानते हैं तो उन्हें यह भी मानना होगा कि प्राचीन काल में श्वेताम्बर परम्परा में भी अचेल मूर्तियों की ही उपासना की परम्परा थी। श्वेताम्बर मूर्तियों के निर्माण की परम्परा यद्यपि परवर्ती है, किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्वेताम्बर धारा के पूर्व आचार्य एवं उपासक जिन - मूर्तियों के उपासना नहीं करते थे। वस्तुत: वे अचेल मूर्तियों को ही पूजते थे।

इन ऐतिहासिक साक्ष्यों से मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि, ईसा की छठीं शताब्दी तक दोनों ही परम्पराओं के मंदिर और मूर्तियाँ एक ही होते थे । जैसे आज श्वेताम्बर परम्परा में गच्छभेद होते हुए भी मन्दिर और प्रतिमाएँ विशेष रूप से तीर्थ स्थानों के मन्दिर और प्रतिमाएँ सभी के द्वारा समान रूप से पूजी जाती हैं, फिर वे चाहे किसी भी गच्छ के आचार्य द्वारा प्रतिष्ठित हों। उस काल तक दोनों ही अचेल प्रतिमा ही पूजते थे।

आज श्वेताम्बर परम्परा में मूर्तियों को जिस प्रकार सवस्त्र रूप से अंकन करने की परम्परा है, वह एक परवर्ती परम्परा है और लगभग छठीं शती से अस्तित्व में आई है। मूर्तियों को लेकर विवाद न हो, इसी कारण से यह अन्तर किया गया है। दूसरे मूर्तियों को आभूषण आदि से सज्जित करने, कॉच अथवा रत्न आदि की ऑखें लगाने आदि की जो परम्परा आई है वह मूलत: सहवर्ती हिन्दू धर्म की भक्तिमार्गीय परम्परा का प्रभाव है।

आदरणीय श्री नीरजजी जैन, श्री मूलचंदजी लुहाड़िया और प्रो. रतनचद्रजी जैन की चिन्ता के दो कारण हैं। प्रथम तो मूर्ति और मंदिरों को लेकर जो विवाद गहराते जाते हैं, उनसे कैसे बचा जाये और दूसरे प्राचीन मंदिर और मूर्तियों को दिगम्बर परम्परा से ही सम्बद्ध कैसे सिद्ध किया जाये। उनकी चिन्ता यथार्थ है, किन्तु इस आधार पर इस ऐतिहासिक सत्य को नकार देना उचित नहीं होगा कि ईसा की पाँचवी-छठीं शती के पूर्व श्वेताम्बर परम्परा भी अचेल मूर्तियों की उपासना करती थी, क्योंकि मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त अभिलेख और चतुर्विध संघ के अंकन से युक्त अनेक मूर्तियाँ इसके प्रबलतम साक्ष्य उपस्थित करती हैं, उन्हें नकारा नहीं जा सकता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'अंगविज्जा' में जैन मंत्रों का प्राचीनतम स्वरूप

'अंगविज्जा' पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत निमित्तशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थ है। इसका वास्तविक रचनाकाल क्या है? यह निर्णय तो अभी नहीं हो सका, किन्तु इसकी भाषा, विषयवस्तु आदि की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा लगता है कि यह ईस्वी सन् के पूर्व का एक प्राचीन ग्रन्थ है। भाषा की दृष्टि से इसमें प्राचीन अर्धमागधी एवं शौरसेनी के अनेक लक्षण उपलब्ध होते हैं और इस दृष्टि से इसकी भाषा उपलब्ध श्वेताम्बर मान्य आगामों की अपेक्षा भी प्राचीन लगती है। नमस्कार मन्त्र का प्राचीनतम रूप जो खारवेल (ई.पू.२री शती) के अभिलेख में पाया जाता है, वह इसमें भी मिलता है। मेरी दृष्टि में यह ईसा पूर्व दूसरी शती से ईसा की दूसरी शती के मध्य की रचना है। इसका वास्तविक काल तो इसके सम्पूर्ण अध्ययन के बाद ही निर्धारित किया जा सकता है। सामान्यतया यह सांस्कृतिक सामग्री से भरपूर फलादेश या निमित्त शास्त्र का ग्रन्थ है, किन्तु इसमें अनेक प्रसंगों में जैन परम्परा में मान्य मन्त्रों का उल्लेख होने से इसे जैन तन्त्रशास्त्र का भी प्रथम ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसमें कुल साठ अध्याय हैं। जैन साहित्य के बृहद् इतिहास भाग- ५ (पृ. २१४) में पं० अम्बालाल शास्त्री ने इसका संक्षिप्त विवरण दिया है, जो इस प्रकार है -

"आरम्भ में अंगविद्या की प्रशंसा की गई है और बताया गया है कि उसके द्वारा सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, जीवन-मरण आदि बातों का ज्ञान होना सम्भव है। ३० पटलों में विभक्त आठवें अध्याय में आसनों के अनेक भेद बताये गये हैं। नौवें अध्याय में १८६८ गाथाएँ हैं, जिनमें २७० विषयों का निरूपण है। इन विषयों में अनेक प्रकार की शय्या, आसन, यान, कुडय, स्तम्भ, वृक्ष, वस्त्र, आभूषण, बर्तन, सिक्के आदि का वर्णन है। ग्यारहवें अध्याय में स्थापत्य सम्बन्धी विषयों का महत्त्वपूर्ण वर्णन करते हुए तत्सम्बन्धी शब्दों की विस्तृत सूची दी गई हैं। उन्नीसवें अध्याय में राजोपजीवी शिल्पी और उनके उपकरणों के सम्बन्ध में उल्लेख है। इक्कीसवां अध्याय विजयद्वार नामक है, जिसमें जय-पराजय सम्बन्धी कथन हैं। बाईसवें अध्याय में उत्तम फलों की सूची दी गई है। पच्चीसवें अध्याय में गोत्रों का विस्तृत उल्लेख है। छब्बीसवें अध्याय में नामों का वर्णन हैं। सत्ताईसवें अध्याय में राजा, मन्त्री, नायक, भाण्डागारिक, आसनस्थ,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महानसिक, गजाध्यक्ष आदि राजकीय अधिकारियों के पदों की सूची है। अट्ठाईसवें अध्याय में उद्योगी लोगों की महत्त्वपूर्ण सूची है। उनतीसवां अध्याय नगरविजय नाम का है, इसमें प्राचीन भारतीय नगरों के सम्बन्ध में बहुत सी बातों का वर्णन है। तीसवें अध्याय में आभूषणों का वर्णन है। बत्तीसवें अध्याय में धान्यों के नाम हैं। तैंतीसवें अध्याय में वाहनों के नाम दिये गये हैं। छत्तीसवें अध्याय में दोहद सम्बन्धी विचार हैं। सैंतीसवें अध्याय में १२ प्रकार के लक्षणों का प्रतिपादन किया गया है। चालीसवें अध्याय में भोजन-विषयक वर्णन है। इकतालीसवें अध्याय में मूर्तियां, उनके प्रकार, आभूषण और अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं का वर्णन है। तैंतालीसवें अध्याय में यात्रा सम्बन्धी वर्णन हैं। छियालिसवें अध्याय में गृहप्रवेश सम्बन्धी शुभ-अशुभ फलों का वर्णन है। सैंतालीसवें अध्याय में राजाओं की सैन्ययात्रा सम्बन्धी शुभाशुभ फलों का वर्णन है। चौवनवें अध्याय में सार और असार वस्तुओं का विचार है। पचपनवें अध्याय में जमीन में गड़ी हुई धनराशि की खोज करने के सम्बन्ध में विचार है। अट्ठावनवें अध्याय में जैनधर्म में निर्दिष्ट जीव और अजीव का विस्तार से वर्णन किया गया है। साठवें अध्याय में पूर्वभव जानने की विधि सुझाई गई है।''

'अंगविज्जा' की उपरोक्त विषयवस्तु उसके सांस्कृतिक सूचनात्मक पक्ष को सूचित करती है किन्तु लेखक का मूल उद्देश्य इन सबके आधार पर विभिन्न प्रकार के फलादेश करना ही था। लेखक इतने मात्र से संतुष्ट नहीं होता है, वह अशुभ फलों के निराकरण एवं वांछित फलों की प्राप्ति के लिए विभिन्न मान्त्रिक साधनाओं का उल्लेख करता है। इसे हमें ध्यान में रखना होगा। यहाँ जैन मन्त्रशास्त्र के साहित्य में इस ग्रन्थ के उल्लेख करने का मुख्य आधार यह है कि इस ग्रन्थ के विभिन्न अध्यायों में जैन परम्परा के अनुरूप मन्त्र साधना सम्बन्धी विधि-विधान भी उपलब्ध हो जाते हैं। इसके आठवें भूमिकर्म नामक अध्याय के प्रथम गजबन्ध नामक संग्रहणी पटल में जैन परम्परानुसार विविध मंत्र तथा उन मन्त्रों के साधना सम्बन्धी विधि-विधान प्राकृत मिश्रित संस्कृत भाषा में दिये गये हैं, जिन्हें हम नीचे अविकल रूप से दे रहे हैं -

(अट्ठमो भूमीकम्मंऽज्झाओ)

(तत्थ पढमं गज्जबंधेणं संगहणीपडलं)

(१) णमो अरहंताणं, णमो सव्वसिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, णमो महापुरिसस्स महतिमहावीरस्स सव्वण्णू-सव्वदरिसिस्स। इमा भूमीकम्मस्स विज्जा-इंदिआली इंदिआलि माहिंदे मारुदि स्वाहा, णमो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महापुरिसदिण्णाए भगवईए अंगविज्जाए सहस्सवागरणाए खीरिणिविरणउदुंबरिणिए सह *सर्वज्ञाय स्वाहा "सर्वज्ञानाधिगमाय स्वाहा" "सर्वकामाय स्वाहा सर्वकर्मसिद्धयै* स्वाहा"।

क्षीरवृक्षच्छायायां अष्टमभक्तिकेन गुणयितव्या क्षीरेण च पारयितव्यम्, सिद्धिरस्तु। भूमिकर्मविद्याया उपचार: - चतुर्थभक्तिकेन कृष्णचतुर्दश्यां ग्रहीतव्या, षष्ठेन साधयितव्या अहतवत्थेण कुससत्थरे १ ॥

(२) "णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं, णमो आमोसहिपत्ताणं, णमो विप्पोसहिपत्ताणं, णमो सव्वोसहिपत्ताणं, णमो संभिन्नसोयाणं, णमो खीरस्सवाणं, णमो मधुस्सवाणं, णमो कुट्ठबुद्धीणं, णमो पदबुद्धीणं, णमो अक्खीणमहाणसाणं, णमो रिद्धिपत्ताणं, णमो चउद्दसपुव्वीणं, णमो भगवईय महापुरिसदित्राए अंगविज्जाए सिद्धे सिद्धासेविए सिद्धचारणाणुचिन्ने अमियबले महासारे महाबलेअंगदुवारधरे स्वाहा।"

छट्ठग्गहणी, छट्ठसाधणी, जापो अट्ठसयं, सिद्धा भवइ २ ॥

(३) णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो महापुरिसदिण्णाय अंगविज्जाए, णमोक्कारयित्ता इमं मंगलं पयोजयिस्सामि, सा मे विज्जा सव्वत्थ पसिज्झउ, अत्थस्स य धम्मस्स य कामस्स य इसिसस्स आदिच्च-चंद-णक्खत्त-गहगण-तारा-गणाण जोगो जोगाणं णभम्मि य जं सच्चं तं सच्चं इधं मज्झं इध पडिरूवे दिस्सउ, पुढवि-उदधि-सलिल-अग्गि- मारूएसु य सव्वभूएसु देवेसु जं सच्चं तं सच्चं इध मज्झ पडिरूवे दिस्सउ।

अवेतु माणुसं सोयं दिव्वं सोयं पवत्तउ। अवेउ माणुसं रूवं दिव्वं रूवं पवत्तउ॥

अवेउ माणुसं चक्खुं दिव्यं चक्खू पवत्तउ। अवेउ माणुसे गंधे दिव्वे गंधे पवत्तउ॥

अवेउ माणुसो फासो दिव्वो फासो पवत्तउ। अवेउ माणुसा कंती दिव्वा कंती पवत्तउ॥

अवेउ माणुसो बुद्धी दिव्वा बुद्धी पवत्तउ। अवेउ माणुसं जाणं दिव्वं जाणं पवत्तउ॥

एएसु जं सच्चं तं सच्चं इध मज्झ पडिरूवे दिस्सउ त्ति, णमो महतिमहा-पुरिसदिण्णाए अंगविज्जा जं सच्चं तं सच्चं इध मज्झ पडिरूवे दिस्सउ, णमो अरहंताणं, णमो सव्वसिद्धाणं, सिज्झंतु मंता स्वाहा।

एसा विज्जा छट्ठग्गहणी, अट्ठमसाधणी, जापो अट्ठसयं।

(४) णमो अरहंताणं, णमो सव्वसिद्धाणं, णमो सव्वसाहूणं, णमो भगवतीय महापुरिसदिण्णाय अंगविज्जाय, उभयभये णतिभये भयमाभये भवे स्वाहा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्वाहा डंडपडीहारो अंगविज्जाय उदकजत्ताहिं चउहिं सिद्धिं। णमो अरहंताणं, णमो सव्वसिद्धाणं, णमो भगवईय महापुरिसदिण्णाय अंगविज्जाय भूमिकम्म० ।

सच्चं भणंति अरहंता ण मुसा भासंति खत्तिया। सच्चेण अरहंता सिद्धा सच्चपडिहारे उ देवया ॥ १ ॥

अत्थसच्चं कामसच्चं धम्मसच्चयं सच्चं तं इह दिस्सउ त्ति, अंगविज्जाए इमा विज्जा उत्तमा लोकमाता वंभाए ठाणथिया पयावइअंगे, एसा देवस्स सव्वअंगम्मि मे चक्खु।

सव्वलोकम्मि य सच्चं पव्वज्ज इसिसच्चं च जं भवे। एएण सच्चवइणेण इमो अट्ठो (प)दिस्सउ ॥ १ ॥

उंतं पवज्जे, भुवं पवज्जे, स्वं पवज्जे, विजयं पवज्जे, सव्वे पवज्जे, उतदुंबरमूलीयं पव्वज्जे, पवविसस्सिामि तं पवज्जे, मेघडंतीयं पवज्जे, विज्जे स्वरपितरं मातरं पवज्जे, स्वरविज्जं पव्वज्जेति स्वाहा ।

आभासो अभिमंतणं च उदकजत्ताहि चउहिं सिद्धं ४ ॥

(५) णमो अरहंताणं, णमो सव्वसिद्धाणं, णमो केवलणाणीणं सव्वभावदंसीणं, णमो आधोधिकाणं, णमो आभिणिबोधिकाणं, णमो मणपज्जवणाणीणं, णमो सव्वभावपवयणरागाणं वारसंगवीणं अट्ठमहानिमित्तायरियाणं सुयणाणीणं, णमो पण्णाणं, णमो विज्जाचारणसिद्धाणं, तवसिद्धाणं चेव अणगारसुविहियाणं णिग्गंथाणं, णमो महानिमित्तीणं सव्वेसिं, आयरियाणं, णमो भगवओ जसवओ महापुरिसस्स **महावीरवद्धमाणास्स** । अधापुव्वं खलु भो! महापुरिसदिण्णाय अंगविज्जाय **भूमीकम्मं णामऽज्झाओ!** तं खलु भो! थमणुवक्खाइस्सामि । तं तु भो !महापुरिसस्स मणिस्स सयसहस्स सहस्सदारस्स अपरिमियस्स अपरिमियसुसंगहियस्स पच्चोदारागमसंजुत्तम्स अपरिमियस्स अपरिमियगइविसयस्स भगवओ उवविट्ठविहिविसेसेणं १ पल्हत्थिगाविहिविसेसेणं २ आमासविहिविसेसेणं ३ अपस्सयविहिविसेसेणं ४ ठियविहिविसेसेणं ५ विपिक्खियविहिविसेसेणं ६ *हसितविधिविसेसेणं* ७ पुच्छियविहिविसेसेणं ८ वंदियविहिविसेसेणं ९ संलावियविहिविसेसेणं १० आगमविधिविसेसेणं ११ रूदितविधिविसेसेणं १२ (परिदेवितविधिविसेसेणं १३) कंदियविधिविसेसेणं १४ पडिमविधिविसेसेणं १५ अब्भुट्ठिय (अप्पुट्ठिय) विधिविसेसेणं १६ णिग्गयविधिविसेसेणं १७ पइलाइयविधिविसेसेणं १८ जंभियविधिविसेसेणं १९ चुंबियविधिविसेसेणं २० आलिंगयिविधिविसेसेणं २१ समिद्धविहिविसेसेणं २२ सेवियविहिविसेसेणं २३ अत्तभावओ बाहिरओयओ वा अंतरंग-बाहिरंगेहि वा सद्द-फरिस-रूव-गंधेहिं वा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गुणेहिं पडिरूवसमुप्पाएहिं वा उवलद्धीवीहिसुभा-ऽसुभाणं संपत्ति-विपत्तिसमायोगेणं उक्करिसा-ऽवकरिसा उवलद्धव्वा भवंति।।

।। इति ख० पु० संगहणीपडलं सम्मत्तं ।।१।। छ।।

इसी प्रकार इस ग्रन्थ के साठवें अध्याय में भी मन्त्रसाधना सम्बन्धी निर्देश उपलब्ध हैं, जिसमें यह बताया गया है कि निर्दिष्ट मन्त्रसाधना से विद्या स्वयं उपस्थित हो करके कहती है कि मैं कहां प्रवेश करूँ? निर्देशानुसार प्रविष्ट होकर वह प्रश्नों का उत्तर देती है। ग्रन्थकार ने यहाँ सबसे अधिक मनोरंजक बात यह लिखी है कि विद्या सिद्ध हो जाने पर जिन प्रश्नों का उत्तर देती है उनमें १६ में से एक प्रश्न के उत्तर में भ्रान्ति हो सकती है, फिर भी ऐसा सिद्ध साधक अपनी इस शक्ति के कारण अजिन होकर भी जिन के सदृश आभासित होता है। इस सन्दर्भ में ग्रन्थ का निम्न अंश विशेष रूप से द्रष्टव्य है-

"सिद्धं खीरिणि! खीरिणि! उदुंबरि! स्वाहा, सव्वकामदये! स्वाहा, सव्वणाणसिद्धिकरि! स्वाहा १! तिण्णि छट्ठाणि, मासं दुद्धोदणेणं उदुंबरस्स हेट्ठा दिवा विज्जामधीये, अपच्छिमे छट्ठे ततो विज्जाओ य पवत्तंते रूवेण य दिस्सते, भणति-कतो ते पविसामि?, तं जहा ते पविसामि तं ते अणंगं काहामीति। पविसित्ता य भणति-सोलस वाकरणाणि वा णाहिसि एक्कं चुक्किहिसि। एवं भणित्तु पविसति सिद्धा भवति।

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो सव्वसाधूणं, णमो भगवती महापुरिसदिण्णाय अंगविज्जाय, आकरणी वाकरणी लोकवेयाकरणी धरणितले सुप्पतिट्ठिते आदिच्च-चंद- णक्खत्त-गहगण-तारारूवाणं सिद्धकतेणं अत्थकतेणं धम्मकतेणं सव्वलोकसुबुहेणं जे अट्ठे सव्वे भूते भविस्से से अट्ठे इध दिस्सतु पसिणम्मि स्वाहा २। एसा आभोयणीविज्जा आधारणी छट्ठग्गहणी, आधरपविसंतेण अप्पा अभिमंतइतव्वो, आकरणि वाकरणि पविसित्तु मंते जवति पुस्सयोगे, चउत्थमत्तेणमेव दिस्सति।

णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो भगवतो यसवतो महापुरिसस्स, णमो भगवतीय सहस्सपरिवाराय अंगविज्जाए, इमं विज्जं पयोयेस्सामि, सा मे विज्जा पसिज्झतु, खीरिंण ! उंदुबरि ! स्वाहा, सर्वकामदये ! स्वाहा, सर्वज्ञानसिद्धिरिति स्वाहा ३ । उपचारो-मासं दुद्धोदणेण उदुंबरस्स हेट्ठा दिवसं विज्जामधीये, अपच्छिमे छट्ठे कातव्वे ततो विज्जा ओवयति त्ति रूवेण दिस्सति, भणति य-कतो ते पविसामि?, जतो य ते पविस्सिस्सं तीय अणंगं काहामि। पविसित्ता य भणती-सोलस वाकरणाणि वाकरेहिसि, ततो पुण एक्कं चुक्किहिसि, वाकरणाणि पण्णरस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अच्छिड्डाणि भासिहिसि, ततो अजिणो जिणसंकासो भविस्ससि, अंगविज्जासिद्धी स्वाहा । परिसंखा णेतव्वा, तच्छीसोपरि पुढवीयं ठिती विण्णेया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक प्रसंगों में विद्या और मन्त्र साधना सम्बन्धी निर्देश उपस्थित हैं। इसके आधार पर इसे जैन मान्त्रिक साधना का प्रारम्भिक ग्रन्थ माना जा सकता है।

इस ग्रन्थ की सबसे मुख्य विशेषता यह है कि इसमें जैन धर्म के प्राचीन एवं प्रमुख पंच परमेष्ठी नमस्कार मंत्र के विविध रूप देखने को मिलते हैं, जिसके आधार पर नमस्कार मंत्र की विकास यात्रा को ऐतिहासिक दृष्टि से समझा जा सकता है। उदाहरण के रूप में इसमें नमस्कार मंत्र के द्विपदात्मक, त्रिपदात्मक और पंचपदात्मक ऐसे तीन रूप मिलते हैं ।

द्विपदात्मक मंत्र नमो अहरंताणं, नमो सव्व सिद्धाणं।

ज्ञातव्य है कि प्राचीनतम जैन अभिलेखों में खारवेल का हत्थीगुफा अभिलेख, जो लगभग ईसा पूर्व दूसरी शती का है उसमें 'नमो अरहंतानं', 'नमो सव्व सिद्धानं' ऐसा द्विपदात्मक नमस्कार मंत्र मिलता है, किन्तु आज तक उसका कोई साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं था। उसके साहित्यिक साक्ष्य के रूप में हमें अंगविज्जा में सर्वप्रथम यह द्विपदात्मक नमस्कार मंत्र मिला है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें सिद्ध पद के पूर्व 'सव्व' पाठ है और इस पाठ को स्वीकार करने से पांचों पदों में सात-सात अक्षर हो जाते हैं। क्योंकि अंगविज्जा में त्रिपदात्मक नमस्कार मंत्र में 'नमो सव्व साहूणं' पाठ मिलता है।

त्रिपदात्मक नमस्कार मंत्र :- नमो अरहंताणं, नमो सव्व सिद्धाणं, नमो सव्व साहूणं।

यहाँ एक विशेष बात यह देखने को मिलती है कि 'नमो सव्वसाहूणं पाठ' में 'लोए' पाठ नहीं है। किन्तु अंगविज्जा में दोनों तरह के पाठ मिलते हैं यथा- नमो लोए सव्व साहूणं और नमो सव्व साहूणं। इसी प्रकार पंचपदात्मक नमस्कार मंत्र भी इस ग्रन्थ के मंत्र भाग में उपलब्ध है।

पंच पदात्मक नमस्कार मंत्र :- नमो अरहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्व साहूणं।

ज्ञातव्य है कि अंगविज्जा के पंचपदात्मक नमस्कार मंत्र में दूसरे पद के दोनों रूप मिलते हैं- 'नमो सिद्धाणं' और 'नमो सव्व सिद्धाणं' किन्तु हमें इस ग्रन्थ में नमस्कार मंत्र की चूलिका नहीं मिली है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थ और इसका मंत्र विभाग प्रचीन है, क्योंकि नमस्कार मंत्र की चूलिका सर्वप्रथम आवश्यक निर्युक्ति में उपलब्ध होती है। अत: इस ग्रन्थ का मंत्र भाग ई.पू. दूसरी शती से ईसा की दूसरी शती के मध्य और आवश्यक निर्युक्ति के पूर्व निर्मित है, यह माना जा सकता है।

दूसरे अंगविज्जा के मंत्र भाग में सूरिमंत्र और वर्द्धमान विद्या का भी पूर्व रूप मिलता है। ज्ञातव्य है कि ऋद्धिपद, लब्धिपद या सूरिमंत्र के रूप में दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम के चतुर्थ खण्ड के वेदना महाधिकार के कृति अनुयोगद्वार में ४४ लब्धि पदों का उल्लेख मिलता है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रश्नव्याकरण सूत्र, तत्त्वार्थभाष्य, गणधरवलय और सूरिमंत्र में भी इन पदों का उल्लेख मिलता है। गणधरवलय में इनकी संख्या ४५ है। सूरिमंत्र की विभिन्न पीठों में इनकी संख्या अलग-अलग है। जहाँ तक अंगविज्जा का प्रश्न है उसमें वे सभी ऋद्धिपद या लब्धिपद तो नहीं मिलते, किन्तु उनमें से बहुत कुछ ऋद्धि या लब्धिपद पूर्वोल्लेखित अष्टम् अध्याय के संग्रहणी पटल में मिलते हैं। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि अंगविज्जा का मंत्र विभाग जैन मांत्रिक साधना का प्राचीनतम रूप प्रस्तुत करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उमास्वाति एवं उनकी उच्चैर्नागर शाखा का उत्पत्ति स्थल एवं विचरणक्षेत्र

तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य की अन्तिम प्रशस्ति में अपने को उच्चैर्नागर शाखा का कहा है तथा अपना जन्म-स्थान न्यग्रोधिका बताया है। अत: उच्चैर्नागर शाखा के उत्पत्ति-स्थल एवं उमास्वाति के जन्म-स्थल का अभिज्ञान (पहचान) करना आवश्यक है। उच्चैर्नागर शाखा का उल्लेख न केवल तत्त्वार्थभाष्य में उपलब्ध होता है, अपितु श्वेताम्बर परम्परा में मान्य कल्पसूत्र की स्थविरावली में तथा मथुरा के अभिलेखों में भी उपलब्ध होता है। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार उच्चैर्नागर शाखा कोटिकगण की एक शाखा थी। मथुरा के २० अभिलेखों में कोटिकगण तथा नौ अभिलेखों में उच्चैर्नागर शाखा का उल्लेख मिलता है। कोटिकगण कोटिवर्ष नगर के निवासी आर्य सुस्थित से निकला था। श्वेताम्बर परम्परा में कोटिकगण की उत्पत्ति का कारण सूरिमंत्र का एक करोड़ बार जप करना माना जाता है किन्तु यह बात मात्र अनुश्रुति रूप ही है। कोटिवर्ष की पहचान पुरातत्त्वविदों ने उत्तर बंगाल के फरीदपुर से की है। इसी कोटिकगण के आर्य शान्तिश्रेणिक से उच्चैर्नागर शाखा के निकलने का उल्लेख है। कल्पसूत्र के गण, कुल और शाखाओं का सम्बन्ध व्यक्तियों या स्थानों (नगरों) से रहा है जैसे - वारणगण वारणावर्त से तथा कोटिकगण कोटिवर्ष से सम्बन्धित था, यद्यपि कुछ गण व्यक्तियों से भी सम्बन्धित थे। शाखाओं में कौशम्बिया, कोडम्बानी, चन्द्रनागरी, माध्यमिका, सौराष्ट्रिका, उच्चैर्नागर आदि शाखाएँ मुख्यतया नगरों से सम्बन्धित रही हैं।

उमास्वाति की उच्चैर्नागर शाखा का उत्पत्ति स्थल ऊँचेहरा (म.प्र.)

यहाँ हम उच्चैर्नागर शाखा के सन्दर्भ में ही चर्चा करेंगे। विचारणीय प्रश्न यह है कि वह उच्चैर्नागर कहाँ स्थित था, जिससे यह शाखा निकली थी। मुनि श्री कल्याणविजय जी और हीरालाल कापड़िया ने कनिंघम को आधार बनाते हुए, इस उच्चैर्नागर शाखा का सम्बन्ध वर्तमान बुलन्द शहर पूर्वनाम वरण से जोड़ने का प्रयत्न किया है। पं. सुखलाल जी ने भी तत्त्वार्थ की 'भूमिका' में इसी का अनुसरण किया है। कनिंघम लिखते हैं कि "वरण या बारण यह नाम हिन्दू इतिहास में अज्ञात है। 'बरण' के चार सिक्के बुलन्दशहर से प्राप्त हुए हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुसलमान लेखकों ने इसे बरण कहा है। मैं समझता हूँ कि यह वही जगह होगी और इसका नामकरण राजा अहिबरण के नाम के आधार पर हुआ होगा जो तोमर वंश से सम्बन्धित था और जिसने यह किला बनवाया था। यह किला बहुत पुराना है और एक ऊँचे टीले पर बना हुआ है। इसके आधार पर ही हिन्दुओं द्वारा इसे ऊँचा गाँव या ऊँचा नगर कहा गया है और मुसलमानों ने बुलन्दशहर कहा है।'' यद्यपि कनिंघम ने कहीं भी इसका सम्बन्ध उच्चैर्नागर शाखा से नहीं बताया, किन्तु उनके द्वारा बुलन्दशहर का ऊँचानगर के रूप में उल्लेख होने से मुनि कल्याणविजयजी और कापड़ियाजी तथा बाद में पं. सुखलाल जी ने उच्चैर्नागर शाखा को बुलन्दशहर से जोड़ने का प्रयास किया। प्रो. कापड़िया ने यद्यपि अपना कोई स्पष्ट अभिमत नहीं दिया है। वे लिखते हैं ''इस शाखा का नामकरण किसी नगर के आधार पर ही हुआ होगा, किन्तु इसकी पहचान अपेक्षाकृत कठिन है, क्योंकि बहुत सारे ऐसे ग्राम और शहर हैं जिनके अंत में 'नगर' नाम पाया जाता है। वे आगे भी लिखते हैं कि कनिंघम का विश्वास है कि यह ऊँचानगर से सम्बन्धित होगा।'' चूंकि कनिंघम ने आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया के १४वें खण्ड में बुलन्दशहर का समीकरण ऊँचानगर से किया था, इसी आधार पर मुनि कल्याणविजय जी ने यह लिख दिया कि ''ऊँचा नगरी शाखा प्राचीन ऊँचानगरी से प्रसिद्ध हुई थी। ऊँचा नगरी को आजकल बुलन्दशहर कहते हैं।'' इस सम्बन्ध में पं. सुखलाल जी का कथन है- 'उच्चैर्नागर' शाखा का प्राकृत नाम 'उच्चानगर' मिलता है। यह शाखा किसी ग्राम या शहर के नाम पर प्रसिद्ध हुई होगी, यह तो प्रतीत होता है; परन्तु यह ग्राम कौनसा था, यह निश्चित करना कठिन है। भारत के अनेक भागों में 'नगर' नाम से या अन्त में 'नगर' शब्दवाले अनेक शहर तथा ग्राम हैं। 'बड़नगर' गुजरात का पुराना तथा प्रसिद्ध नगर है। बड़ का अर्थ मोटा (विशाल) और मोटा का अर्थ कदाचित् ऊँचा भी होता है। लेकिन गुजरात में बड़नगर नाम भी पूर्वदेश के उस अथवा उस जैसे नाम के शहर से लिया गया होगा, ऐसी भी विद्वानों की कल्पना है। इससे उच्चनागर शाखा का बड़नगर के साथ ही सम्बन्ध है, यह जोर देकर नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त जब उच्चनागर शाखा उत्पन्न हुई, उस काल में बड़नगर था या नहीं यह भी विचारणीय है। उच्चनागर शाखा के उद्भव के समय जैनाचार्यों का मुख्य विहार गंगा-यमुना की तरफ होने के प्रमाण मिलते हैं । अत: बड़नगर के साथ उच्चनागर शाखा के सम्बन्ध की कल्पना सबल नहीं रहती ।

इस विषय में कनिंघम का कहना है ''यह भौगोलिक नाम उत्तर-पश्चिम प्रान्त के आधुनिक बुलन्दशहर के अन्तर्गत 'उच्चनगर' नाम के किले के साथ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेल खाता है।'' किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि ऊँचानगर शाखा का सम्बन्ध बुलन्दशहर से तभी जोड़ा जा सकता है जब उसका अस्तित्व ई.पू. प्रथम शताब्दी के लगभग रहा हो या कम से कम उस काल में ऊँचानगर कहलाता भी हो। इस नगर के प्राचीन 'बरण' नाम का उल्लेख तो है, किन्तु यह भी ९-१०वीं शताब्दी से पूर्व का ज्ञात नहीं होता। बारण (बरण) नाम से कब इसका नाम बुलन्दशहर हुआ, इसके सम्बन्ध में किसी नतीजे पर पहुंचने में उन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त की है। यह हिन्दुओं द्वारा ऊँचागॉव या ऊँचानगर कहा जाता था- मुझे तो यह भी उनकी कल्पना सी प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध में वे कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। बरन नाम का उल्लेख भी मुस्लिम इतिहासकारों ने दसवीं सदी के बाद ही किया है। इतिहासकारों ने इस ऊँचागॉव किले का सम्बन्ध तोमर वंश के राजा अहिवरण से जोड़ा है, अत: इसकी अवस्थिति ईसा के पॉचवी-छठीं शती से पूर्व तो सिद्ध ही नहीं होती। यहॉ से मिले सिक्कों पर 'गोवितसबाराणये' ऐसा उल्लेख है। स्वयं कनिंघम ने भी सम्भावना व्यक्त की है कि इन सिक्कों का सम्बन्ध वारणाव या वारणावत से रहा होगा। वारणावर्त का उल्लेख महाभारत में भी है जहॉ पाण्डवों ने हस्तिनापुर से निकलकर विश्राम किया था तथा जहॉ उन्हें जिन्दा जलाने के लिये कौरवों द्वारा लाक्षागृह का निर्माण करवाया गया था। बारणावा (बारणावत) मेरठ से १६ मील और बुलन्दशहर (प्राचीन नाम बरन) से ५० मील की दूरी पर हिंडोन और कृष्णा नदी के संगम पर स्थित है। मेरी दृष्टि में वह वारणावत वही है जहॉ से जैनों का 'वारणगण' निकला था। 'वारणगण' का उल्लेख भी कल्पसूत्र स्थविरावली एवं मथुरा के अभिलेखों में उपलब्ध होता है। अत: बारणाबत (वारणावर्त) का सम्बन्ध वारणगण से हो सकता है न कि उच्चैर्नागरी शाखा से, जो कि कोटिकगण की शाखा थी। अत: अब हमें इस भ्रान्ति का निराकरण कर लेना चाहिए। उच्चैर्नागर शाखा का सम्बन्ध किसी भी स्थिति में बुलन्दशहर से नहीं हो सकता।

यह सत्य है कि उच्चैर्नागर शाखा का सम्बन्ध किसी ऊँचानगर से ही हो सकता है। इस सन्दर्भ में हमने इससे मिलते-जुलते नामों की खोज प्रारम्भ की है। हमें ऊँचाहार, ऊँचडीह, ऊँचीबस्ती, ऊँचौलिया, ऊँचाना, ऊँच्चेहरा आदि कुछ नाम प्राप्त हुए। हमें इन नामों में ऊँचाहार (उ.प्र.) और ऊँचेहरा (म.प्र.) ये दो नाम अधिक निकट प्रतीत हुए। ऊँचाहार की सम्भावना भी इस लिए हमें उचित नहीं लगी कि उसकी प्राचीनता के सन्दर्भ में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं हैं। अत: हमने ऊँचेहरा को ही अपनी गवेषणा का विषय बनाना उचित समझा। ऊँचेहरा मध्यप्रदेश के सतना जिले में सतना रेडियो स्टेशन से १० कि.मी.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दक्षिण की ओर स्थित है। ऊँचेहरा से ७ कि.मी. उत्तर-पूर्व की ओर भरहुत का प्रसिद्ध स्तूप स्थित है। इससे इस स्थान की प्राचीनता का भी पता लग जाता है। वर्तमान ऊँचेहरा से लगभग २ कि.मी. की दूरी पर पहाड़ के पठार पर यह प्राचीन नगर स्थित था, इसी से इसका ऊँचानगर नामकरण भी सार्थक सिद्ध होता है। वर्तमान में यह वीरान स्थल 'खोह' कहा जाता है। वहाँ के नगर निवासियों ने मुझे यह भी बताया कि पहले यह उच्चकल्पनगरी कहा जाता था और यहाँ से बहुत सी पुरातात्त्विक सामग्री भी निकली थी। यहाँ से गुप्त काल अर्थात् ईसा की पाँचवीं शती के राजाओं के कई दानपत्र प्राप्त हुए हैं। इन ताम्र-दानपत्रों में उच्चकल्प (उच्छकल्प) का स्पष्ट उल्लेख है, ये दानपत्र गुप्त सं. १५६ से गुप्त सं. २०९ के बीच के हैं। (विस्तृत विवरण के लिये देखें- ऐतिहासिक स्थानावली- विजयेन्द्र कुमार माथुर, पृ.२६०-२६१)। इससे इस नगर की गुप्तकाल में तो अवस्थिति स्पष्ट हो जाती है। पुन: जिस प्रकार विदिशा के समीप सांची का स्तूप निर्मित हुआ है उसी प्रकार इस उच्चैर्नगर (ऊँचहेरा) के समीप भरहुत का स्तूप निर्मित हुआ था और यह स्तूप ई.पू. दूसरी या प्रथम शती का है। इतिहासकारों ने इसे शुंग काल का माना है। भरहुत के स्तूप के पूर्वी तोरण पर 'वाच्छिपुत धनभूति' का उल्लेख है। पुन: अभिलेखों में 'सुगनं रजे' ऐसा उल्लेख होने से शुंग काल में इसका होना सुनिश्चित है। अत: उच्चैर्नागर शाखा का स्थापना काल (लगभग ई.पू. प्रथम शती) और इस नगर का सत्ताकाल समान ही है। इसे उच्चैर्नागर शाखा का उत्पत्ति स्थल मानने में काल दृष्टि से कोई बाधा नहीं है। ऊँचेहरा (उच्चकल्पनगर) एक प्राचीन नगर था, इसमें अब कोई सन्देह नहीं रह जाता। यह नगर वैशाली या पाटलीपुत्र से वाराणसी होकर भरुकच्छ को जाने वाले अथवा श्रावस्ती से कौशाम्बी होकर विदिशा, उज्जयिनी और भरुकच्छ जाने वाले मार्ग में स्थित है। इसी प्रकार वैशाली-पाटलिपुत्र से पद्मावती (पँवाया), गोपाद्रि (ग्वालियर) होते हुए मथुरा जाने वाले मार्ग पर भी इसकी अवस्थिति थी। उस समय पाटलीपुत्र से गंगा और यमुना के दक्षिण से होकर जाने वाला मार्ग ही अधिक प्रचलित था, क्योंकि इसमें बड़ी नदियां नहीं आती थीं, मार्ग पहाड़ी होने से कीचड़ आदि भी अधिक नहीं होता था। जैन साधु प्राय: यही मार्ग अपनाते थे।

प्राचीन यात्रा मार्गों के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि ऊँचानगर की अवस्थिति एक प्रमुख केन्द्र के रूप में थी। यहाँ से कौशाम्बी, प्रयाग, वाराणसी आदि के लिये मार्ग थे। पाटलीपुत्र को गंगा-यमुना आदि बड़ी नदियों को बिना पार किये जो प्राचीन स्थल मार्ग था, उसके केन्द्र नगर के रूप में उच्चकल्प नगर (ऊँचानगर) की स्थिति सिद्ध होती है। यह एक ऐसा मार्ग था, जिसमें कहीं भी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोई बड़ी नदी नहीं आती थी। अत: सार्थ निरापद समझकर इसे ही अपनाते थे। प्राचीन काल से आज तक यह नगर धातुओं के मिश्रण के बर्तनों हेतु प्रसिद्ध रहा है। आज भी वहां कांसे के बर्तन सर्वाधिक मात्रा में बनते हैं। ऊँचेहरा का 'उच्चैर' शब्द से जो ध्वनि-साम्य है वह भी हमें इसी निष्कर्ष के लिए बाध्य करता है कि उच्चैर्नागर शाखा की उत्पत्ति इसी क्षेत्र से हुई थी।

उमास्वाति का जन्म स्थान नागोद (म.प्र.)

उमास्वाति ने अपना जन्म स्थाना 'न्यग्रोधिका' बताया है। इस सम्बन्ध में भी विद्वानों ने अनेक प्रकार के अनुमान किये हैं। चूंकि उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य की रचना कुसुमपुर (पटना) में की थी अत: अधिकांश लोगों ने उमास्वाति के जन्मस्थल की पहचान उसी क्षेत्र में करने का प्रयास किया है। न्यग्रोध को वट भी कहा जाता है। इस आधार पर पहाड़पुर के निकट बटगोहली, जहाँ से पंचस्तूपान्वय का एक ताम्र-लेख मिला है, से भी इसका समीकरण करने का प्रयास किया गया है। मेरी दृष्टि में ये धारणाएँ समुचित नहीं हैं। उच्चैर्नागर शाखा, ऊँचेहरा से सम्बन्थित थी, उसमें उमास्वाति के दीक्षित होने का अर्थ यही है कि वे उसके उत्पत्ति स्थल के निकट ही कहीं जन्में होंगे। उच्चैर्नागर या ऊँचेहरा से मथुरा जहाँ उच्चनागरी शाखा के अधिकतम लेख प्राप्त हुए हैं तथा पटना जहाँ उन्होंने तत्त्वार्थभाष्य की रचना की, दोनों ही लगभग समान दूरी पर अवस्थित रहे हैं। वहाँ से दोनों स्थानों की दूरी लगभग ३५० कि.मी. है और किसी जैन साधु के द्वारा यहाँ से एक माह की पदयात्रा कर दोनों स्थलों पर आसानी से पहुँचा जा सकता था। स्वयं उमास्वाति ने ही लिखा है कि विहार (पदयात्रा) करते हुए वे कुसुमपुर (पटना) पहुँचे थे (विहरतापुरवरेकुसुमनामस्ति)। इससे यही लगता है कि न्यग्रोध, (नागोद) कुसुमपुर (पटना) के बहुत समीप नहीं था। डॉ. हीरालाल जैन ने संघ विभाजन स्थल रहवीरपुर की पहचान दक्षिण में महाराष्ट्र के अहमदनगर जिले के राहुरी ग्राम से और उमास्वाति के जन्मस्थल की पहचान उसी के समीप स्थित 'निधोज' से की, किन्तु यह ठीक नहीं है। प्रथम तो व्याकरण की दृष्टि से न्यग्रोध का प्राकृत रूप नागोद होता है, निधोज नहीं। दूसरे उमास्वाति जिस उच्चैर्नागर शाखा के थे, वह शाखा उत्तर भारत की थी, अत: उनका सम्बन्ध उत्तर भारत से ही रहा होगा और इसलिये उनका जन्म स्थल भी उत्तर भारत में ही होगा।

उच्चनागरी शाखा के उत्पत्ति स्थल ऊँचेहरा से लगभग ३० कि.मी. पश्चिम की ओर 'नागोद' नाम का कस्बा आज भी है । आजादी के पूर्व यह एक स्वतंत्र राज्य था और ऊँचेहरा इसी राज्य के अधीन आता था। नागोद के आस-पास भी जो प्राचीन सामग्री मिली है उससे यही सिद्ध होता है कि यह भी प्राचीन नगर था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रो. के.डी. बाजपेयी ने नागोद से २४ कि.मी. दूर नचना के पुरातात्त्विक महत्त्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है। नागोद की अवस्थिति पन्ना (म.प्र.), नचना और ऊँचेहरा के मध्य है। इन क्षेत्रों में शुँगकाल से लेकर ९वीं-१०वीं शती तक की पुरातात्त्विक सामग्री मिलती है, अत: इसकी प्राचीनता में सन्देह नहीं किया जा सकता। नागोद न्यग्रोध का ही प्राकृत रूप है, अत: सम्भावना यही है कि उमास्वाति का जन्म स्थल यही नागोद था और जिस उच्चनागरी शाखा में वे दीक्षित हुए थे, वह भी उसी के समीप स्थित ऊँचेहरा (उच्चकल्प नगर) से उत्पन्न हुई थी। तत्त्वार्थभाष्य की प्रशस्ति में उमास्वाति की माता को वात्सी कहा गया है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान नागोद और ऊँचेहरा दोनों ही प्राचीन वत्स देश के अधीन ही थे। भरहुत और इस क्षेत्र के आस-पास जो कला का विकास देखा जाता है, वह कौशाम्बी अर्थात् वत्सदेश के राजाओं के द्वारा ही किया गया था। ऊँचेहरा वत्सदेश के दक्षिण का एक प्रसिद्ध नगर था। भरहुत के स्तूप के निर्माण में भी वात्सी गोत्र के लोगों का महत्त्वपूर्ण योगदान था, ऐसा वहाँ से प्राप्त अभिलेखों से प्रमाणित होता है। भरहुत के स्तूप के पूर्वी तोरणद्वार पर वाच्छीपुत्त धनभूति का उल्लेख है। वत्सगोत्र के लोगों की बहुलता के कारण ही यह क्षेत्र वत्स देश कहलाता होगा और उमास्वाति की माता इसी गोत्र की थीं। अत: हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उमास्वाति का जन्मस्थल नागोद मध्यप्रदेश (न्यग्रोध) और उनकी उच्चैर्नागर शाखा का उत्पत्ति स्थल ऊँचेहरा (म.प्र.) है। पुन: उन्होंने वर्तमान पटना (कुसुमपुर) में अपना तत्त्वार्थभाष्य लिखा था अत: वे उत्तर भारत के निर्ग्रंथ संघ में हुए हैं। उनका विचरण क्षेत्र पटना से मथुरा तक अर्थात् वर्तमान बिहार, उत्तरप्रदेश, उत्तर-पूर्वी मध्यप्रदेश और पश्चिमी राजस्थान तक माना जा सकता है।

इस प्रकार प्रस्तुत आलेख में मैंने उमास्वाति के जन्मस्थल और विचरण क्षेत्र का विचार किया, जो मुख्यत: अभिलेखीय और साहित्यिक साक्ष्यों पर आधारित है। विद्वानों से मैं इनकी सम्यक् समीक्षा की अपेक्षा रखता हूँ, ताकि इस महान जैन दार्शनिक के इतिवृत्त को अनुश्रुतियों की धुंध से निकाल कर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में सम्यकरूपेण देखा जा सके।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उमास्वाति का काल

उमास्वाति के काल निर्णय के सन्दर्भ में जो भी प्रयास हुए हैं वे सभी उन्हें प्रथम से चौथी शताब्दी के मध्य सिद्ध करते हैं। उमास्वाति के ग्रन्थों में हमें सप्तभंगी और गुणस्थान सिद्धान्त का सुनिश्चित स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि गुणस्थान सिद्धान्त से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि ये अवधारणायें अपने स्वरूप के निर्धारण की दिशा में गतिशील थीं। इससे हम इस निष्कर्ष पर तो पहुँच ही सकते हैं कि उमास्वाति इन अवधारणाओं के सुनिर्धारित एवं सुनिश्चित होने के पूर्व ही हुए हैं। तत्त्वार्थसूत्र की जो प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं उनमें श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ-भाष्य को और दिगम्बर परम्परा में सर्वार्थसिद्धि को प्राचीनतम माना जाता है। इनमें से तत्त्वार्थ-भाष्य में गुणस्थान और सप्तभंगी की स्पष्ट अवधारणा उपलब्ध नहीं है जबकि सर्वार्थसिद्धि में गुणस्थान का स्पष्ट एवं विस्तृत विवरण है। तत्त्वार्थसूत्र के परवर्ती टीकाकारों में सर्वप्रथम अकलंक अपने तत्त्वार्थराजवार्तिक के चौथे अध्याय के अन्त में सप्तभंगी का तथा नवें अध्याय के प्रारम्भ में गुणस्थान सिद्धान्त का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हैं। तत्त्वार्थ की टीकाओं के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में विशेष रूप से श्वेताम्बर आगमों में समवायांग में 'जीवठाण' के नाम से, यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम में 'जीवसमास' के नाम से और दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में 'गुणठाण' के नाम से इस सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। ये सभी ग्रन्थ लगभग पांचवीं शती के आसपास के हैं। इसलिए इतना तो निश्चित है कि तत्त्वार्थ की रचना चौथी-पांचवीं शताब्दी के पूर्व की है। यह सही है कि ईसा की दूसरी शताब्दी से वस्त्र-पात्र के प्रश्न पर विवाद प्रारम्भ हो गया, फिर भी यह निश्चित है कि पांचवीं शताब्दी के पूर्व श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आ पाये थे। निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बर), श्वेतपट्टमहाश्रमणसंघ और यापनीय संघ का सर्वप्रथम उल्लेख हल्सी के पांचवीं शती के अभिलेखों में ही मिलता है।

मूलसंघ का उल्लेख उससे कुछ पहले ई. सन् ३७० एवं ४२१ का है। तत्त्वार्थ के मूलपाठों की कहीं दिगम्बर परम्परा से, कहीं श्वेताम्बर परम्परा से और कहीं यापनीय परम्परा से संगति होना और कहीं विसंगति होना यही सूचित करता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि वह संघभेद के पूर्व की रचना है। मुझे जो संकेत सूत्र मिले हैं उससे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थ उस काल की रचना है जब श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय संघ स्पष्ट रूप से विभाजित होकर अस्तित्व में नहीं आये थे। श्री कापड़िया जी ने तत्त्वार्थ को प्रथम शताब्दी के पश्चात् चौथी शताब्दी के पूर्व की रचना माना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में ऐसे भी अनेक तथ्य हैं जो न तो सर्वथा वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा से और न ही दिगम्बर परम्परा से मेल खाते हैं। 'हिस्ट्री ऑफ मिडिवल स्कूल ऑफ इण्डियन लाजिक' में तत्त्वार्थसूत्र की तिथि 185AD स्वीकार की गई है। प्रो. विंटरनित्ज मानते हैं कि उमास्वाति उस युग में हुए जब उत्तर भारत में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय एक दूसरे से पूर्णतः पृथक् नहीं हुए थे। उनका ग्रन्थ तत्त्वार्थ स्पष्टतः सम्प्रदाय भेद के पूर्व का है। सम्प्रदाय भेद के सम्बन्ध में सर्वप्रथम हमें जो साहित्यिक सूचना उपलब्ध होती है, वह आवश्यक मूलभाष्य की है, जो आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यक के मध्य निर्मित हुआ था। उसमें वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् ही बोटिकों की उत्पत्ति का अर्थात् उत्तर भारत में अचेल और सचेल परम्पराओं के विभाजन का उल्लेख है। साथ ही उसमें यह भी उल्लेख है कि मुनि के सचेल या अचेल होने का विवाद तो आर्यकृष्ण और आर्य शिव के बीच वीर नि. सं. ६०९ में हुआ था, किन्तु परम्परा भेद उनके शिष्य कौडिण्य या कोट्टवीर से हुआ। इसका तात्पर्य यह है कि स्पष्ट रूप से परम्परा भेद वीर नि. सं. ६०९ के पश्चात् हुआ है। सामान्यतया वीर निर्वाण विक्रम संवत् से ४७० वर्ष पूर्व माना जाता है किन्तु इसमें ६० वर्ष का विवाद है, जिसकी चर्चा आचार्य हेमचन्द्र से लेकर समकालीन अनेक विद्वान भी कर रहे हैं। इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त, अशोक और सम्प्रति आदि का जो काल निर्धारित किया है उसमें चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु की तथा सम्प्रति और सुहस्ति की समकालिकता वीर निर्वाण को विक्रम संवत् ४१० वर्ष पूर्व मानने पर ही अधिक बैठती है। यदि वीर निर्वाण विक्रम संवत् के ४१० वर्ष पूर्व हुआ है तो यह मानना होगा कि संघभेद ६०९-४१० अर्थात् विक्रम संवत् १९९ में हुआ। यदि इसमें भी हम कौडिण्य और कोट्टवीर का काल ६० वर्ष जोड़ें तो यह संघभेद लगभगं विक्रम संवत् २५९ अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ होगा। इस संघभेद के फलस्वरूप श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा का स्पष्ट विकास तो इसके भी लगभग सौ वर्ष पश्चात् ही हुआ होगा। क्योंकि, पांचवीं शती के पूर्व इन नामों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

तीसरी-चौथी शताब्दी के समवायांग जैसे श्वेताम्बर मान्य आगमों और यापनीय परम्परा के कसायपाहुड एवं षट्खण्डागस जैसे ग्रन्थों से तत्त्वार्थसूत्र की कुछ निकटता और विरोध यही सिद्ध करता है कि उसकी रचना इनके पूर्व हुई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तत्त्वार्थभाष्य की प्रशस्ति तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता के काल का निर्णय करने का आज एकमात्र महत्त्वपूर्ण साधन है। उस प्रशस्ति के अनुसार तत्त्वार्थ के कर्ता उच्चैर्नागर शाखा में हुए। उच्चैर्नागर शाखा का उच्चनागरी शाखा के रूप में कल्पसूत्र में उल्लेख है। उसमें यह भी उल्लेख है कि यह शाखा आर्य शान्तिश्रेणिक से प्रारम्भ हुई। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार शान्तिश्रेणिक आर्यवज्र के गुरु सिंहगिरि के गुरुभ्राता थे। श्वेताम्बर पट्टावलियों में आर्यवज्र का स्वर्गवास काल वीर निर्वाण सं. ५८४ माना जाता है। अत: आर्य शान्तिश्रेणिक का जीवन काल वीर निर्वाण ४७० से ५५० के बीच मानना होगा। फलत: आर्य शान्तिश्रेणिक से उच्चनागरी की उत्पत्ति विक्रम की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध और द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में किसी समय हुई। इसकी संगति मथुरा के अभिलेखों से भी होती है। उच्चैर्नागर शाखा का प्रथम अभिलेख शक् सं. ५ अर्थात् विक्रम संवत् १४० का है, अत: उमास्वाति का काल विक्रम की द्वितीय शताब्दी या उसके पश्चात् ही होगा। उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य में उन्हें उच्चैर्नागर शाखा का बताया गया है। इस शाखा के नौ अभिलेख हमें मथुरा से उपलब्ध होते हैं। जिनपर कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव का उल्लेख भी है। यदि इनपर अंकित सम्वत् शक् संवत् हो तो यह काल शक् संवत् ५ से ८७ के बीच आता है, इतिहासकारों के अनुसार कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव ई. सन् ७८ से १७६ के बीच हुए हैं। विक्रम संवत् की दृष्टि से उनका यह काल सं. १३५ से २३३ के बीच आता है अर्थात् विक्रम संवत् की द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्ध और तृतीय शताब्दी का पूर्वार्ध। अभिलेखों के काल की संगति आर्य शान्तिश्रेणिक और उनसे उत्पन्न उच्चनागरी शाखा के काल से ठीक बैठती है। उमास्वाति इसके पश्चात् ही कभी हुए हैं। तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वाति ने अपने प्रगुरु घोषनन्दी श्रमण और गुरु शिवश्री का उल्लेख किया है। मुझे मथुरा के अभिलेखों में खोज करने पर स्थानिक कुल के गणि उग्गहिणी के शिष्य वाचक घोषक का उल्लेख उपलब्ध हुआ है। स्थानिककुल भी उसी कोटिकगण का कुल है, जिसकी एक शाखा उच्चानागरी है। कुछ अभिलेखों में स्थानिक कुल के साथ वज्री शाखा का भी उल्लेख हुआ है। यद्यपि उच्चनागरी और वज्री दोनों ही शाखाएँ कोटिकगण की हैं। मथुरा के एक अन्य अभिलेख में 'निवतनासीवद' ऐसा उल्लेख भी मिलता है। निवर्तना सम्भवत: समाधि स्थल का सूचक है, यद्यपि इससे ये आर्यघोषक और आर्य शिव निश्चित रूप से उमास्वाति के गुरु एवं प्रगुरु हैं, इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है, फिर भी सम्भावना तो व्यक्त की ही जा सकती है।

आर्य कृष्ण और आर्य शिव जिनके बीच वस्त्र-पात्र सम्बन्धी विवाद वीर नि. सं. ६०९ में हुआ था, के उल्लेख हमें मथुरा के कुषाणकालीन अभिलेखों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में उपलब्ध होते हैं। यद्यपि आर्य शिव के सम्बन्ध में जो अभिलेख उपलब्ध हैं, उनके खण्डित होने से संवत् का निर्देश तो स्पष्ट नहीं है, किन्तु 'निवतनासीवद' ऐसा उल्लेख है जो इस तथ्य का सूचक है कि उनके समाधि स्थल पर कोई निर्माण कार्य किया गया था। आर्य कृष्ण का उल्लेख करने वाला अन्य लेख स्पष्ट है और उसमें शक संवत् ९५ निर्दिष्ट है। इस अभिलेख में कोटीयगण, स्थानीयकुल और वैरी शाखा का उल्लेख भी है। इस आधार पर आर्य शिव और आर्य कृष्ण का काल वि.सं. २३० के लगभग आता है। वस्त्र-पात्र विवाद का काल वीर नि. सं. ६०९ तदनुसार ६०९- ४१० अर्थात् वि.सं. १९९ मानने पर इसकी संगति उपर्युक्त अभिलेख से हो जाती है क्योंकि आर्य कृष्ण की यह प्रतिमा उनके स्वर्गवास के ३०-४० वर्ष बाद ही कभी बनी होगी । उससे यह बात भी पुष्ट होती है कि आर्य शिव आर्य कृष्ण से ज्येष्ठ थे। कल्पसूत्र स्थविरावली में भी उन्हें ज्येष्ठ कहा गया है। सम्भावना यह भी हो सकती है कि ये दोनों गुरुभाई हों और उनमें आर्य शिव ज्येष्ठ और आर्य कृष्ण कनिष्ठ हों या आर्य शिव आर्य कृष्ण के गुरु हों। यद्यपि विशेषावश्यकभाष्य में साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण यह क्रम उलट दिया गया है।

आर्य शिव को उमास्वाति का प्रगुरु मानने पर उनका काल तीसरी शताब्दी का पूर्वार्ध मानना होगा, किन्तु तीसरी शती के उत्तरार्ध से चौथी शताब्दी पूर्वार्ध तक के जो भी जैन शिलालेख उपलब्ध हैं, उनमें कहीं भी श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। वस्त्र, पात्र आदि के उपयोग को लेकर विक्रम संवत् की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध से विवाद प्रारम्भ हो गया था, किन्तु श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय परम्पराओं के भेद स्थापित नहीं हुए थे। वि. सं. की छठीं शताब्दी के पूर्वार्ध अर्थात् ई.सन् ४७५ से ४९० के अभिलेखों में सर्वप्रथम श्वेतपट्ट महाश्रमणसंघ (श्वेताम्बर), निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ (दिगम्बर) और यापनीय संघ के उल्लेख मिलते हैं। प्रो. मधुसूदन ढाकी ने उमास्वाति का काल चतुर्थ शती निर्धारित किया है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर मैं इसे तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध से चौथी शती के पूर्वार्द्ध के बीच मानना चाहूँगा। चाहे हम उमास्वाति का काल प्रथम से चतुर्थ शती के बीच कुछ भी मानें, इतना निश्चित है कि वे संघ भेद के पूर्व के हैं। यदि हम उमास्वाति के प्रगुरु शिव का समीकरण आर्य शिव, जिनका उल्लेख कल्पूसत्र स्थविरावली में भी है और जो उत्तर भारत में वस्त्र-पात्र सम्बन्धी विवाद के जनक थे, से करते हैं तो समस्या का समाधान मिलने में सुविधा होती है। आर्य शिव वीर निर्वाण सं. ६०९ अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उपस्थित थे। इस आधार पर उमास्वाति तीसरी शती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के उत्तरार्ध और चौथी शती के पूर्वार्ध में हुए होंगे, ऐसा माना जा सकता है। यह भी संभव है कि वे इस परम्परा भेद में कौडिण्य और कोट्टवीर के साथ संघ से अलग न होकर मूलधारा से जुड़े रहे हों। फलतः उनकी विचारधारा में यापनीय और श्वेताम्बर दोनों ही परम्परा की मान्यताओं की उपस्थिति देखी जाती है। वस्त्र-पात्र को लेकर वे श्वेताम्बरों और अन्य मान्यताओं के सन्दर्भ में यापनीयों के निकट रहे हैं ।

इन समस्त चर्चाओं से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उमास्वाति का काल विक्रम संवत् की तीसरी और चौथी शताब्दी के मध्य का है और इस काल तक वस्त्र-पात्र सम्बन्धी विवादों के बावजूद भी श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीयों का अलग-अलग साम्प्रदायिक अस्तित्व नहीं बन पाया था। स्पष्ट सम्प्रदाय भेद, सैद्धान्तिक मान्यताओं का निर्धारण और श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे नामकरण पाँचवीं शताब्दी में या उसके बाद ही अस्तित्व में आये हैं। उमास्वाति निश्चित ही सम्प्रदाय भेद और साम्प्रदायिक मान्यताओं के निर्धारण के पूर्व के आचार्य हैं। वे उस संक्रमण काल में हुए हैं, जब श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदाय और उनकी साम्प्रदायिक मान्यताएँ स्थिर हो रही थीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उमास्वाति और उनकी परम्परा

उमास्वाति और उनका तत्त्वार्थसूत्र जैन धर्म की श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय परम्पराओं में से मूलत: किससे सम्बन्धित हैं, यह प्रश्न विद्वानों के मस्तिष्क को झकझोरता रहा है। जहां श्वेताम्बर परम्परा के विद्वानों ने मूलग्रन्थ के साथ-साथ उसके भाष्य और प्रशमरति को उमास्वाति की ही कृति मानकर उन दोनों में उपलब्ध श्वेताम्बर समर्थक तथ्यों के आधार पर उन्हें श्वेताम्बर सिद्ध करने का प्रयास किया, वहीं दिगम्बर परम्परा के विद्वानों ने भाष्य और प्रशमरति के कर्ता को तत्त्वार्थ के कर्ता से भिन्न बताकर तथा मूलग्रन्थ में श्वेताम्बर परम्परा की आगमिक मान्यताओं से कुछ भिन्नता दिखाकर उन्हें दिगम्बर परम्परा का सिद्ध करने का प्रयास किया है। जबकि पं. नाथूराम प्रेमी जैसे कुछ तटस्थ विद्वानों ने ग्रन्थ में उपलब्ध श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं से विरुद्ध तथ्यों को उभारकर और यापनीय मान्यताओं से उनकी निकटता दिखाकर उन्हें यापनीय परम्परा का सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वस्तुत: ये समस्त प्रयास तत्त्वार्थसूत्र की परम्परा के सन्दर्भ में किसी भी निश्चित अवधारणा को बनाने में तब तक सहायक नहीं हो सकते, जब तक कि हम उमास्वाति के काल का और इन तीनों धाराओं के उत्पन्न होने के काल का निश्चय नहीं कर लेते। अत: सबसे पहले हमें यही देखना होगा कि उमास्वाति किस काल के हैं, क्योंकि इसी आधार पर उनकी परम्परा का निर्धारण सम्भव है।

उमास्वाति के काल निर्णय के सन्दर्भ में जो भी प्रयास हुए हैं वे सभी उन्हें प्रथम से चौथी शताब्दी के मध्य सिद्ध करते हैं। उमास्वाति के ग्रन्थों में हमे सप्तभंगी और गुणस्थान सिद्धान्त का सुनिश्चित स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि गुणस्थान सिद्धान्त से सम्बन्धित कुछ पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि ये अवधारणायें अपने स्वरूप के निर्धारण की दिशा में गतिशील थीं। इससे हम इस निष्कर्ष पर तो पहुँच ही सकते हैं कि उमास्वाति इन अवधारणाओं के सुनिर्धारित एवं सुनिश्चित होने के पूर्व ही हुए हैं। तत्त्वार्थसूत्र की जो प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं उनमें श्वेताम्बर परम्परा में तत्त्वार्थ-भाष्य को और दिगम्बर परम्परा में सर्वार्थसिद्धि को प्राचीनतम माना जाता है। इनमें से तत्त्वार्थ-भाष्य में गुणस्थान और सप्तभंगी की स्पष्ट अवधारणा उपलब्ध नहीं है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जबकि सर्वार्थसिद्धि में गुणस्थान का स्पष्ट एवं विस्तृत विवरण है। तत्त्वार्थसूत्र की परवर्ती टीकाओं में सर्वप्रथम अकलंक तत्त्वार्थ राजवार्तिक में चौथे अध्याय के अन्त में सप्तभंगी का तथा ९वें अध्याय के प्रारम्भ में गुणस्थान सिद्धान्त का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हैं। तत्त्वार्थ की टीकाओं के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में विशेष रूप से श्वेताम्बर आगमों यथा समवायांग में 'जीवठाण' के नाम से, यापनीय ग्रन्थ षट्खण्डागम में 'जीवसमास' के नाम से और दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में 'गुणठाण' के नाम से इस सिद्धान्त का उल्लेख मिलता है। ये सभी ग्रन्थ लगभग पांचवीं शती के आसपास के हैं। इसलिए इतना तो निश्चित है कि तत्त्वार्थ की रचना चौथी-पांचवीं शताब्दी के पूर्व की है। यह सच है कि ईसा की दूसरी शताब्दी से वस्त्र-पात्र के प्रश्न पर विवाद प्रारम्भ हो गया था, किन्तु यह भी निश्चित है कि पांचवीं शताब्दी के पूर्व श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे सम्प्रदाय अस्तित्व में नहीं आ पाये थे। निर्ग्रन्थसंघ (दिगम्बर), श्वेतपट्ट महाश्रमणसंघ और यापनीय संघ का सर्वप्रथम उल्लेख हल्सी के पांचवीं शती के अभिलेखों में ही मिलता है।

मूलसंघ का उल्लेख उससे कुछ पहले ई.सन् ३७० एवं ४२१ का है। तत्त्वार्थ के मूलपाठों की कहीं दिगम्बर परम्परा से, क़हीं श्वेताम्बर परम्परा से और कहीं यापनीय परम्परा से संगति होना और कहीं विसंगति होना यही सूचित करता है कि वह संघभेद के पूर्व की रचना है। मुझे जो संकेत सूत्र मिले हैं उससे ऐसा लगता है कि तत्त्वार्थ उस काल की रचना है जब श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय स्पष्ट रूप से विभाजित होकर अस्तित्व में नहीं आये थे। श्री कापड़िया जी ने तत्त्वार्थ को प्रथम शताब्दी के पश्चात् चौथी शताब्दी के पूर्व की रचना माना है। तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य में ऐसे भी अनेक तथ्य हैं जो न तो सर्वथा वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा से और न ही दिगम्बर परम्परा से मेल खाते हैं। 'हिस्ट्री ऑफ मिडिवल स्कूल ऑफ इण्डियन लाजिक' में तत्त्वार्थसूत्र की तिथि 185AD स्वीकार की गई है। प्रो. विंटरनित्ज मानते हैं कि उमास्वाति उस युग में हुए जब उत्तर भारत में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय एक दूसरे से पूर्णत: पृथक् नहीं हुए थे। उनका ग्रन्थ तत्त्वार्थ स्पष्टत: सम्प्रदाय भेद के पूर्व का है। सम्प्रदाय भेद के सम्बन्ध में सर्वप्रथम हमें जो साहित्यिक सूचना उपलब्ध होती है, वह आवश्यक मूलभाष्य की है, जो आवश्यकनिर्युक्ति और विशेषावश्यक के मध्य निर्मित हुआ था। उसमें वीर निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् ही बोटिकों की उत्पत्ति का अर्थात् उत्तर भारत में अचेल और सचेल परम्पराओं के विभाजन का उल्लेख है। साथ ही उसमें यह भी उल्लेख है कि मुनि के सचेल या अचेल होने का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवाद तो आर्यकृष्ण और आर्य शिव के बीच वीर नि. सं. ६०९ में हुआ था, किन्तु परम्परा भेद उनके शिष्य कौडिण्य या कोट्टवीर से हुआ। इसका तात्पर्य यह है कि स्पष्ट रूप से परम्परा भेद वीर नि. स. ६०९ के पश्चात् हुआ है। सामान्यतया वीर निर्वाण विक्रम संवत् से ४७० वर्ष पूर्व माना जाता है, किन्तु इसमें ६० वर्ष का विवाद है, जिसकी चर्चा आचार्य हेमचन्द्र से लेकर समकालीन अनेक विद्वान भी कर रहे हैं। इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त, अशोक और सम्प्रति आदि का जो काल निर्धारित किया है, उसमें चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु की तथा सम्प्रति और सुहस्ति की समकालिकता वीर निर्वाण को विक्रम संवत् ४१० वर्ष पूर्व मानने पर ही अधिक बैठती है। यदि वीर निर्वाण विक्रम संवत् के ४१० वर्ष पूर्व हुआ है तो यह मानना होगा कि संघभेद ६०९-४१० अर्थात् विक्रम संवत् १९९ में हुआ। यदि इसमें भी हम कौडिण्य और कोट्टवीर का काल ६० वर्ष जोड़ें तो यह संघभेद लगभग विक्रम संवत् २५९ अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी उत्तरार्ध में हुआ होगा। इस संघभेद के फलस्वरूप श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा का स्पष्ट विकास तो इसके भी लगभग सौ वर्ष पश्चात् ही हुआ होगा। क्योंकि, पांचवीं शती के पूर्व इन नामों का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता।

तीसरी-चौथी शताब्दी के समवायांग जैसे श्वेताम्बर मान्य आगमों और यापनीय परम्परा के कसायपाहुड एवं षट्खण्डागस जैसे ग्रन्थों से तत्त्वार्थसूत्र की कुछ निकटता और विरोध यही सिद्ध करता है कि उसकी रचना इनके पूर्व हुई है।

तत्त्वार्थभाष्य की प्रशस्ति तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता के काल का निर्णय करने का आज एकमात्र महत्त्वपूर्ण साधन है। उस प्रशस्ति के अनुसार तत्त्वार्थ के कर्ता उच्चैर्नागर शाखा में हुए। उच्चैर्नागर शाखा का उच्चनागरी शाखा के रूप में कल्पसूत्र में उल्लेख है। उसमें यह भी उल्लेख है कि यह शाखा आर्य शान्तिश्रेणिक से प्रारम्भ हुई। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार शान्तिश्रेणिक आर्यवज्र के गुरु सिंहगिरि के गुरुभ्राता थे। श्वेताम्बर पट्टावलियों में आर्यवज्र का स्वर्गवास काल वीर निर्वाण सं. ५८४ माना जाता है। अत: आर्य शान्तिश्रेणिक का जीवन काल वीर निर्वाण ४७० से ५५० के बीच मानना होगा। फलत: आर्य शान्तिश्रेणिक से उच्चनागरी की उत्पत्ति विक्रम की प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध और द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में किसी समय हुई। इसकी संगति मथुरा के अभिलेखों से भी होती है। उच्चैर्नागर शाखा का प्रथम अभिलेख शक् सं. ५ अर्थात् विक्रम संवत् १४० का है, अत: उमास्वाति का काल विक्रम की द्वितीय शताब्दी या उसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पश्चात् ही होगा। उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य में उन्हें उच्चैर्नागर शाखा का बताया गया है। इस शाखा के नौ अभिलेख हमें मथुरा से उपलब्ध होते हैं, जिन पर कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के उल्लेख हैं। यदि इनपर अंकित सम्वत् शक संवत् हो तो यह काल शक् संवत् ५ से ८७ के बीच आता है, इतिहासकारों के अनुसार कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव ई. सन् ७८ से १७६ के बीच हुए हैं। विक्रम संवत् की दृष्टि से उनका यह काल सं. १३५ से २३३ के बीच आता है अर्थात् विक्रम संवत् की द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्ध और तृतीय शताब्दी का पूर्वार्ध। अभिलेखों के काल की संगति आर्य शान्तिश्रेणिक और उनसे उत्पन्न उच्चनागरी शाखा के काल से ठीक बैठती है। उमास्वाति इसके पश्चात् ही कभी हुए हैं। तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वाति ने अपने प्रगुरु घोषनन्दी श्रमण और गुरु शिवश्री का उल्लेख किया है। मुझे मथुरा के अभिलेखों में खोज करने पर स्थानिक कुल के गणि उग्गहिणी के शिष्य वाचक घोषक का उल्लेख उपलब्ध हुआ है। स्थानिककुल भी उसी कोटिकगण का कुल है, जिसकी एक शाखा उच्चानागरी है। कुछ अभिलेखों में स्थानिक कुल के साथ वज्री शाखा का भी उल्लेख हुआ है। यद्यपि उच्चनागरी और वज्री दोनों ही शाखाएँ कोटिकगण की हैं। मथुरा के एक अन्य अभिलेख में 'निवतनासीवद' ऐसा उल्लेख भी मिलता है। निवर्तना सम्भवत: समाधि स्थल की सूचक है, यद्यपि इससे ये आर्यघोषक और आर्य शिव निश्चित रूप से ही उमास्वाति के गुरु एवं प्रगुरु हैं, इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है, फिर भी सम्भावना तो व्यक्त की ही जा सकती है।

आर्य कृष्ण और आर्य शिव जिनके बीच वस्त्र-पात्र सम्बन्धी विवाद वीर नि.सं. ६०९ में हुआ था। उन दोनों के उल्लेख हमें मथुरा के कुषाणकालीन अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। यद्यपि आर्य शिव के सम्बन्ध में जो अभिलेख उपलब्ध हैं, उसके खण्डित होने से संवत् का निर्देश तो स्पष्ट नहीं है, किन्तु 'निवतनासीवद' ऐसा उल्लेख है जो इस तथ्य का सूचक है कि उनके समाधि स्थल पर कोई निर्माण कार्य किया गया था। आर्य कृष्ण का उल्लेख करने वाला अन्य लेख स्पष्ट है और उसमें शक् संवत् ९५ निर्दिष्ट है। इस अभिलेख में कोटीयगण, स्थानीयकुल और वैरी शाखा का उल्लेख भी है। इस आधार पर आर्य शिव और आर्य कृष्ण का काल वि.सं. २३० के लगभग आता है। वस्त्र-पात्र विवाद का काल वीर नि.सं. ६०९ तदनुसार ६०९ - ४१० अर्थात् वि.सं. १९९ मानने पर इसकी संगति उपर्युक्त अभिलेख से हो जाती है क्योंकि आर्य कृष्ण की यह प्रतिमा उनके स्वर्गवास के ३०-४० वर्ष बाद ही कभी बनी होगी। उससे यह बात भी पुष्ट होती है कि आर्य शिव आर्य कृष्ण से ज्येष्ठ थे। कल्पसूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थविरावली में भी उन्हें ज्येष्ठ कहा गया है। सम्भावना यह भी हो सकती है ये दोनो गुरुभाई हों और उनमें आर्य शिव ज्येष्ठ और आर्य कृष्ण कनिष्ठ हों या आर्य शिव आर्य कृष्ण के गुरु हों। यद्यपि विशेषावश्यकभाष्य में साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण यह क्रम उलट दिया गया है।

इन आर्य शिव को उमास्वाति का प्रगुरु मानने पर उनका काल तीसरी शताब्दी का पूर्वार्ध होगा, किन्तु तीसरी शती के उत्तरार्ध से चौथी शताब्दी पूर्वार्ध तक के जो भी जैन शिलालेख उपलब्ध हैं, उनमें कहीं भी श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। वस्त्र, पात्र आदि के उपयोग को लेकर विक्रम संवत् की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध से विवाद प्रारम्भ हो गया था, किन्तु स्पष्ट रूप से श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय परम्पराओं के भेद स्थापित नहीं हुए थे। वि.सं. की छठीं शताब्दी के पूर्वार्ध के अर्थात् ई.सन् ४७५ से ४९० के अभिलेखों में सर्वप्रथम श्वेतपट्ट महाश्रमणसंघ (श्वेताम्बर), निर्ग्रन्थमहाश्रमणसंघ (दिगम्बर) और यापनीय संघ के उल्लेख मिलते हैं। प्रो. मधुसूदन ढाकी ने उमास्वाति का काल चतुर्थ शती निर्धारित किया है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर मैं इसे तीसरी शताब्दी के उत्तरार्ध से चौथी शती के पूर्वार्द्ध के बीच मानना चाहूँगा। चाहे हम उमास्वाति का काल प्रथम से चतुर्थ शती के बीच कुछ भी मानें किन्तु इतना तो निश्चित है कि वे संघ भेद के पूर्व के हैं। यदि हम उमास्वाति के प्रगुरु शिव का समीकरण आर्य शिव, जिनका उल्लेख कल्पसूत्र स्थविरावली में भी है और जो उत्तर भारत में वस्त्र-पात्र सम्बन्धी विवाद के जनक थे, से करते हैं तो समस्या का समाधान मिलने में सुविधा होती है। आर्य शिव वीर निर्वाण सं. ६०९ अर्थात् विक्रम की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उपस्थित थे। इस आधार पर उमास्वाति तीसरी के उत्तरार्ध और चौथी के पूर्वार्ध में हुए होंगे, ऐसा माना जा सकता है। यह भी सम्भव है कि वे इस परम्परा भेद में भी कौडिण्य और कोट्टवीर के साथ संघ से अलग न होकर मूलधारा से जुड़े रहे हों। फलतः उनकी विचारधारा में यापनीय और श्वेताम्बर दोनो ही परम्परा की मान्यताओं की उपस्थिति देखी जाती है। वस्त्र-पात्र को लेकर वे श्वेताम्बरों और अन्य मान्यताओं के सन्दर्भ में यापनीयों के निकट रहे हैं।

इन समस्त चर्चाओं से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उमास्वाति का काल विक्रम संवत् की तीसरी और चौथी शताब्दी के मध्य है और इस काल तक वस्त्र-पात्र सम्बन्धी विवादों के बावजूद भी श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीयों का अलग-अलग साम्प्रदायिक अस्तित्व नहीं बन पाया था। स्पष्ट सम्प्रदाय भेद,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सैद्धान्तिक मान्यताओं का निर्धारण और श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय जैसे नामकरण पाँचवी शताब्दी में या उसके बाद ही अस्तित्व में आये हैं। उमास्वाति निश्चित ही स्पष्ट सम्प्रदाय भेद और साम्प्रदायिक मान्यताओं के निर्धारण के पूर्व के आचार्य हैं। वे उस संक्रमण काल में हुए हैं, जब श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदाय और उनकी साम्प्रदायिक मान्यताएँ और स्थिर हो रही थीं ।

अत: वे उस अर्थ में श्वेताम्बर या दिगम्बर नहीं हैं, जिस अर्थ में आज हम इन शब्दों का अर्थ लेते हैं। वे यापनीय भी नहीं है, क्योंकि यापनीय सम्प्रदाय का सर्वप्रथम अभिलेखीय प्रमाण भी विक्रय की छठीं शताब्दी के पूर्वार्ध और ईसा की पाँचवीं शती के उत्तरार्ध (ई.सन् ४७५) का मिलता है। अत: वे श्वेताम्बर और यापनीयों की पूर्वज उत्तर भारत की निर्ग्रन्थ धारा की कोटिकगण की उच्चनागरी शाखा में हुए हैं। उनके सम्बन्ध में इतना मानना ही पर्याप्त है। उन्हें श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय सम्प्रदाय से जोड़ना मेरी दृष्टि में उचित नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन आगम साहित्य में श्रावस्ती

जैन आगमिक साहित्य में श्रावस्ती का उल्लेख आर्यक्षेत्र के जनपद की राजधानी के रूप में किया गया है। भगवतीसूत्र के अनुसार यह नगरी कृतांगला नामक नगर के निकट स्थित थी। इसके समीप अचिरावती नदी बहती थी । श्रावस्ती नगरी के तिन्दुक उद्यान और कौष्ठक वन का उल्लेख हमें जैनागमों में बहुलता से उपलब्ध होता है। स्थानांगसूत्र में इसे भारतवर्ष की दस प्रमुख राजधानियों यथा साकेत श्रावस्ती, हस्तिनापुर, काम्पिल्य, मिथिला, कौशाम्बी, वाराणसी और राजगृह में से एक माना गया है।

इस वर्णन से ऐसा लगता है कि स्थानांग के रचना काल तक जैन परम्परा मुख्य रूप से उत्तर भारत के नगरों से ही परिचित थी। श्रावस्ती का दूसरा नाम कुणाला भी था। जैन साहित्य में श्रावस्ती की दूरी साकेत (अयोध्या) से सात योजन (लगभग ९० कि.मी.) बतायी गई है। वर्तमान में श्रावस्ती की पहचान बहराइच जिले के सहेट-महेट ग्राम से की जाती है। आधुनिक उल्लेखों के आधार पर यह बात सत्य भी लगती है, क्योंकि साकेत से सहेट-महेट की दूरी लगभग उतनी ही है। पुन: सहेट-महेट का राप्ती नदी के किनारे स्थित होना भी आगमिक तथ्यों की पुष्टि करता है। राप्ती अचिरावती का ही संक्षिप्त और अपभ्रंश रूप है। श्रावस्ती के उत्तर पूर्व में कैकेय जनपद की उपस्थिति मानी गयी है और कैकेय जनपद की राजधानी सेयाविया (श्वेताम्बिका) बतलायी गयी है। कैकेय के अर्धभाग को ही आर्य क्षेत्र माना जाता था इसका तात्पर्य यह है कि उस काल में इसके आगे जंगली जातियां निवास करती रही होंगी ।

श्रावस्ती को चक्रवर्ती मघवा, राजा जितशत्रु, पसेनिय (प्रसेनजित) और रूप्पि की राजधानी बताया गया है। इसके अतिरिक्त इस नगर को तीर्थंकर सम्भवनाथ का जन्मस्थान और प्रथम पारणे का स्थान भी माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से हमें जैन आगम साहित्य में जो प्रमाण मिलते हैं, उसके आधार पर यह नगर राजा प्रसेनजित की राजधानी थी। राजप्रश्नीय के अनुसार प्रसेनजित को पार्श्वापत्यीय-श्रमण केशी ने निर्ग्रन्थ परम्परा का अनुयायी बनाया था। राजप्रश्नीय में प्रसेनजित को आत्मा के अस्तित्व एवं पुनर्जन्म के सम्बन्ध में अनेक शंकाये थीं, जिन्हें आर्य केशी ने समाप्त किया था। ज्ञाताधर्मकथा और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निरयावलिका के उल्लेख के अनुसार पार्श्व श्रावस्ती गये थे और वहां पर उन्होंने काली, पद्मावती, शिवा, वसुपुत्ता आदि अनेक स्त्रियों को दीक्षित किया था। श्रावस्ती में पार्श्वापत्यों का प्रभाव था इस तथ्य की पुष्टि अनेक आगमिक उल्लेखों से होती है। जैन आगम साहित्य में जो उल्लेख पाये जाते हैं उनसे ऐसा लगता है कि श्रावस्ती पर निर्ग्रन्थों के अतिरिक्त आजीवकों, बौद्धों और हिन्दू परिव्राजकों का भी पर्याप्त प्रभाव था। बौद्ध साहित्य से यह स्पष्टत: ज्ञात होता है कि बुद्ध इस नगर में अनेक बार आये थे और उन्होंने यहाँ अपने प्रतिहार्यों का प्रदर्शन भी किया था। इससे ऐसा लगता है कि उस युग का श्रावस्ती का जनमानस प्रबुद्ध और उदार था और वह विभिन्न धर्म सम्प्रदाय के लोगों को अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने का अवसर देता था। जैन परम्परा के लिए तो श्रावस्ती अनेक दृष्टियों से एक महत्त्वपूर्ण नगर सिद्ध होता है।

भगवतीसूत्र में प्राप्त सूचना के अनुसार जैनों का प्रथम संघ भेद भी श्रावस्ती में ही हुआ था। महावीर के जामातृ जामालि ने यहीं पर "क्रियमाण अकृत" का सिद्धान्त स्थापित किया था और महावीर के संघ से अपने ५०० शिष्यों के साथ अलग हुए थे। जामालि की मान्यता यह थी कि जो कार्य पूर्णतया समाप्त नहीं हुआ है, उसे कृत नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत महावीर की मान्यता यह थी कि जो कार्य हो रहा है, उसे सापेक्षिक रूप से कृत कहा जा सकता है, क्योंकि उस कार्य का कुछ अंश तो हो ही चुका है। इस प्रकार महावीर की संघ व्यवस्था में प्रथम विद्रोह का सूत्रपात श्रावस्ती नगर में ही हुआ था।

पुन: महावीर और मंखलिपुत्रगोशालक के मध्य विवाद की चरम परिणति भी श्रावस्ती में हुई थी। भगवतीसूत्र के १५वें शतक के अनुसार आजीवक परम्परा के मंखालिपुत्रगोशालक ने अपना २४वां चातुर्मास श्रावस्ती नगरी के हालाहला नामक कुंभकारी की आपण (दुकान) में किया था। उस समय भगवान महावीर श्रावस्ती नगरी के कोष्ठक चैत्य में चातुर्मासार्थ विराजित थे। भगवतीसूत्र में उपलब्ध विवरण के अनुसार प्रथम तो गोशालक ने भिक्षार्थ गये महावीर के श्रमणों के समक्ष श्रावस्ती की सड़कों पर ही महावीर की आलोचना की। पुन: कोष्ठक वन में आकर महावीर से विवाद किया तथा उन पर तेजोलेश्या फेंकी। उस तेजोलेश्या के कारण महावीर के दो शिष्य सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मरण को प्राप्त होते हैं और स्वयं महावीर भी अस्वस्थ हो जाते हैं। भगवतीसूत्र के १५वें शतक में इस सम्पूर्ण घटनाक्रम का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। ऐतिहासिक दृष्टि से हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि महावीर और गोशालक के मध्य विवाद की चरम परिणति भी श्रावस्ती नगर में हुई थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किन्तु जहां श्रावस्ती में उस युग के विभिन्न धर्म सम्प्रदायों के बीच विरोध और संघर्ष के स्वर मुखर हुए थे, वहीं महावीर और पार्श्व की परम्पराओं के सम्मिलन का स्थल भी यही नगर था। श्रावस्ती नगर के तिन्दुक उद्यान में पार्श्वापत्य परम्परा के आर्य केशी विराजित थे, वहीं इसी नगर के कोष्ठक उद्यान में महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम विराजित थे। दोनों आचार्यों के शिष्य नगर में जब एक दूसरे से मिलते थे तो उनमें यह चर्चा होती थी कि एक ही लक्ष्य के लिए प्रवृत्त इन दोनों परम्पराओं में यह मतभेद क्यों है? केशी और गौतम अपने शिष्यों की इन शंकाओं के समाधान के लिए तथा महावीर और पार्श्व की परम्पराओं के बीच कोई समन्वय-सेतु बनाने के लिए परस्पर मिलने का निर्णय करते हैं और गौतम ज्येष्ठ कुल का विचार करके स्वयं केशी श्रमण के पास मिलने हेतु जाते हैं। केशी श्रमण गौतम को सत्कारपूर्वक आसन प्रदान करते हैं। श्रावस्ती के अनेक व्यक्ति भी दोनों आचार्यों की इस विचार चर्चा को सुनने हेतु एकत्र हो जाते हैं। दोनों आचार सम्बन्धी मतभेदों तथा आध्यात्मिक साधना के विभिन्न समस्याओं पर खुलकर विचार-विमर्श करते हैं। दोनों का श्रावस्ती में यह सौहार्दपूर्ण मिलन ही पार्श्व और महावीर की परम्पराओं के बीच समन्वय सेतु बना।

इसी प्रकार श्रावस्ती स्कन्दक नामक परिव्राजक और भगवान महावीर के पारस्परिक मिलन का और लोक, जीव, सिद्धि आदि सम्बन्धी अनेक दार्शनिक प्रश्नों पर चर्चा का स्थल भी रहा है। भगवतीसूत्र में प्राप्त उल्लेख के अनुसार श्रावस्ती नगर में आचार्य गर्दभिल्ल के शिष्य कात्यायनगोत्रीय स्कन्दक परिव्राजक निवास करते थे। उसी नगर में निर्ग्रन्थ वैशालिक अर्थात् भगवान महावीर का श्रावक पिंगल भी निवास करता था। पिंगल और स्कन्दक के बीच लोक, जीव और सिद्धि की सान्तता और अनन्तता पर चर्चा होती है। स्कन्दक इस चर्चा के समाधान के लिए स्वयं श्रावस्ती के निकट ही स्थित कृतमंगलानगर, जहाँ पर भगवान महावीर और गौतम विराजित थे, वहाँ जाता है । गौतम महावीर के निर्देश पर स्कन्दक परिव्राजक का समादर पूर्वक स्वागत करते हैं, उसे महावीर के समीप ले जाते हैं और दोनों में फिर इन्हीं प्रश्नों को लेकर विस्तार से चर्चा होती है । अन्त में स्कन्दक महावीर के विचारों के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर श्रावस्ती महावीर की अपनी परम्परा में ही उत्पन्न विद्रोह का नगर है वहीं दूसरी ओर महावीर की परम्परा का अन्य परम्पराओं के साथ कितना सौहार्दपूर्ण व्यवहार था, इसका भी साक्षी स्थल है। वस्तुतः ऐसा लगता है कि श्रावस्ती के परिवेश में विचार स्वातन्त्र्य और पारस्परिक सौहार्द के तत्त्व उपस्थित थे। इस नगर के नागरिकों की यह उदारता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

थी, कि वे विभिन्न विचारधाराओं के प्रवर्तकों को समान रूप से समादर देते थे। मात्र यही नहीं, उनमें होने वाली विचार चर्चाओं में भी सहभागी होते थे। श्रावस्ती को हम विभिन्न धर्म परम्पराओं की समन्वयस्थली कह सकते हैं।

आगमिक सूचनाओं के अनुसार श्रावस्ती नगर के बाहर बहने वाली उस अचिरावती नदी में जल अत्यन्त कम होता था और जैन साधु इस नदी को पार करके भिक्षा के लिए आ जा सकते थे। यद्यपि वर्षाकाल में इस नदी में भयंकर बाढ़ भी आती थी ।

इस प्रकार जैन धर्म की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनायें श्रावस्ती के साथ जुड़ी हुई हैं। फिर भी यदि तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से ऐसा लगता है कि यहाँ पर बौद्ध धर्म का प्रभाव अधिक था और स्वयं बुद्ध का इस नगर के प्रति विशिष्ट आकर्षण था। यह ठीक वैसा ही था जैसा कि महावीर का राजगृही के प्रति। यही कारण है कि बुद्ध ने यहाँ अनेक चातुर्मास किये और प्रायः इसी के समीपवर्ती क्षेत्र में विचरण करते थे। जबकि महावीर ने सर्वाधिक चातुर्मास राजगृह और उसके समीपवर्ती उपनगर नालन्दा में किये। फिर भी जैन आगम साहित्य के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावस्ती का जैन परम्परा के साथ भी निकट सम्बन्ध रहा है। उसे तीसरे तीर्थंकर सम्भवनाथ के चार कल्याणकों की पावन भूमि माना जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत एवं अपभ्रंश जैन साहित्य में कृष्ण

राम और कृष्ण ऐसे व्यक्तित्व हैं, जो युगों-युगों से भारतीय जनमानस के श्रद्धा के केन्द्र रहे हैं। इन दानों व्यक्तित्वों के जीवन चरित्रों ने भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति को बहुत अधिक आन्दोलित और प्रभावित किया है। वैष्णवधर्म के उद्‌भव एवं भक्तिमार्ग के विकास के साथ ये दोनों व्यक्तित्व अधिकाधिक जनश्रद्धा के केन्द्र बनते चले गए। इनके जीवन वृत्तों पर रचित रामायण, महाभारत और भागवत भारतीय परम्परा के ऐसे ग्रन्थ हैं, जो सभी भारतीय लोक भाषाओं में अनुदित हैं और भारतीय जनसाधारण के द्वारा अत्यधिक श्रद्धा और भक्ति के साथ पढ़े व सुने जाते हैं। साहित्यिक रुझान की दृष्टि से राम कें चरित्र की अपेक्षा भी कृष्ण का चरित्र पूर्व मध्य काल में अधिक प्रभावी रहा है। राम के चरित्र को अधिकाधिक लोकव्यापी बनाने का श्रेय गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस को है। राम सदाचार सम्पन्न, सन्मार्ग संरक्षक एक वीर पुरुष हैं, जबकि कृष्ण एक बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी हैं। वे एक नटखट बालक, रसिक युवा, धर्म और समाज के संरक्षक वीर पुरुष, कुशल राजनेता तथा धर्म एवं अध्यात्म के उपदेष्टा प्रज्ञा पुरुष सभी कुछ हैं। उनके जीवन के इस बहुआयामी स्वरूप ने उन्हें अधिक प्रभावी बना दिया है।

अर्धमागधी आगम साहित्य में कृष्ण

जहां तक जैन परम्परा का प्रश्न है, उसने राम और कृष्ण दोनों के कथानकों को अपने में आत्मसात करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि जैन परम्परा में विमलसूरि के पउमचरियं (प्राकृत), जिनसेन के पद्मपुराण (संस्कृत), रविषेण के पद्मचरित (संस्कृत) एवं स्वयम्भू के पउमचरिउ (अपभ्रंश) के साथ-साथ राजस्थानी और हिन्दी में अनेक ग्रन्थ रामकथा पर मिलते हैं, किन्तु जैन आगम साहित्य में जितना विस्तृत विवरण कृष्णकथा का मिलता है उतना रामकथा का नहीं मिलता। जैन आगमों में राम के नाम निर्देश के अतिरिक्त उनके जीवनवृत्त का कोई उल्लेख नहीं मिलता। जबकि कृष्ण के जीवनवृत्त के अनेक उल्लेख उनमें उपलब्ध हैं। जैन परम्परा में कृष्ण का जीवन चरित्र २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के जीवनचरित्र के साथ जुड़ा हाने के कारण है, उसे राम की अपेक्षा भी आगम साहित्य में अधिक स्थान मिला है। आगम ग्रन्थों में समवायांग, उत्तराध्ययन,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृत्दशा, प्रश्नव्याकरण आदि आगमों में कृष्ण सम्बन्धी उल्लेख हैं। आगम साहित्य में कृष्ण के चरित्र को राम के चरित्र के अपेक्षा जो प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है, उसका कारण केवल यही नहीं है कि वे जैन परम्परा के २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि के चचेरे भाई हैं, अपितु उनका वासुदेव (अर्द्धचक्री) होना भी है। जैन परम्परा में राम एवं कृष्ण दोनों की गणना शलाका पुरुषों में की गई है, किन्तु जहां राम को बलदेव के रूप में स्वीकृत किया गया है वहीं कृष्ण को वासुदेव के रूप में स्वीकृत किया गया है। बलदेव के अपेक्षा वासुदेव का पद निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है, क्योंकि वासुदेव शासनसूत्र का स्वयं नियामक होता है। जबकि बलदेव मात्र उसका सहयोगी । साथ ही जैन परम्परा में कृष्ण को भविष्य में होने वाले १२वें तीर्थंकर के रूप में भी स्वीकार किया गया है और यह सत्य है कि जैन परम्परा में तीर्थंकर ही सर्वोच्च व्यक्तित्व है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि राम के अपेक्षा कृष्ण ने जैनों को अधिक प्रभावित किया है।

जहां तक कृष्ण के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में विस्तृत एवं स्वतंत्र ग्रन्थ का प्रश्न है संस्कृत एवं अपभ्रंश में हरिवंश पुराण के रूप में सर्वप्रथम ऐसे स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे गये। किन्तु आगे चलकर रिट्ठनेमिचरिउ, नेमिनाहचरिउ, पदुम्नचरिउ, कण्हचरित आदि अनेक ग्रन्थ लिखे गये जिनमें कृष्ण-कथा को प्रमुख स्थान मिला है।

जैन आगम साहित्य में प्राचीनतम स्तर के अर्थात् ईस्वी पूर्व के ग्रन्थों यथा- आचारांग, ऋषिभाषित, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक में कृष्ण के जीवनवृत्त का हमें कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता। ऋषिभाषित में वारिषेण कृष्ण के उपदेशों का विवरण है, किन्तु उनका देवकी पुत्र कृष्ण से सम्बन्ध जोड़ पाना कठिन है। मात्र उत्तराध्ययन सूत्र के रथनेमि (रहनेमिज्ज) नामक अध्ययन में राजीमति और रथनेमि के कथा प्रसंग में शौरीपुर नगर के वसुदेव नामक राजा की रोहिणी और देवकी नाम की रानियों के पुत्र के रूप में क्रमशः राम और केशव (कृष्ण) का उल्लेख है। इस कथा प्रसंग में केशव के द्वारा राजीमति का अरिष्टनेमि से विवाह निश्चित करने एवं अरिष्टनेमि के प्रव्रजित होने पर उन्हें शुभकामना प्रेषित करने एवं वन्दन करने का भी उल्लेख है। सम्भवतः यही एक ऐसा साहित्यिक प्राचीनतम आधार है, जहां कृष्ण जैन परम्परा में सर्वप्रथम उल्लिखित होते हैं। यद्यपि द्वितीय स्तर के आगम ग्रन्थों में अर्थात् ईसा की प्रथम द्वितीय शताब्दी में निर्मित आगम ग्रन्थों में कृष्णकथा का धीरे-धीरे विस्तार होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है। इन ग्रन्थों में समवायांग पूर्वभाग के ५४वें समवाय में २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव एवं ९ वासुदेव ये ५४ उत्तम पुरुष होते हैं - मात्र यह उल्लेख है। यहां इनके नामों का भी उल्लेख नहीं है। किन्तु समवायांग के ही अंतिम भाग में बलदेवों एवं वासुदेवों के वर्तमान भव के नाम, पूर्व भव के नाम, निदान कारण और निदान नगरों के नाम तथा उनके माता-पिता, पूर्व भव के धर्माचार्य और वर्तमान भव के प्रतिशत्रु (प्रतिवासुदेव) के नाम आदि का उल्लेख है। इसी प्रसंग में नवें वासुदेव के रूप में कृष्ण का नाम आता है। कृष्ण के पिता के रूप में वसुदेव और माता के रूप में देवकी का उल्लेख यहां भी हमें प्राप्त होता है।

इसी प्रसंग में सामान्य रूप से वासुदेवों और बलदेवों की सम्पदा, शारीरिक शक्ति, व्यक्तित्व आदि का विस्तृत उल्लेख किया गया है। इस चर्चा में जो महत्त्वपूर्ण उल्लेख है वह यह कि बलदेव कटिसूत्र वाले नीले कौशेयक वस्त्र को और वासुदेव कटिसूत्र वाले पीतकौषेयक वस्त्र को धारण करते हैं। इसी प्रकार यहां यह भी बताया गया है कि बलदेव हल और मूसल रूपी अस्त्रों को धारण करते हैं और वासुदेव श्रृंग, धनुष, पाञ्चजन्य शंख, सुदर्शन चक्र, कौमुदकी गदा, नन्दक खड्ग धारण करते हैं और उनका मुकुट कौस्तुभमणि से युक्त होता है। वैष्णव परम्परा में कृष्ण और बलदेव की वेशभूषा एवं आयुध आदि की जो चर्चा है उससे इस विवरण की समानता है। यद्यपि हमें स्मरण रखना चाहिए कि ये सभी उल्लेख समवायांग-सूत्र के अंतिम भाग में पाये जाते हैं जो उसके परिशिष्ट के रूप में है। इससे ऐसा लगता है कि इन्हें समवायांग में बाद में जोड़ा गया है। फिर भी वर्तमान समवायांग का जो कुछ स्वरूप है, वह ईसा की ५वीं शताब्दी में निश्चित हो गया था। अत: ये सारे विवरण उनसे प्राचीन ही हैं, परवर्ती नहीं। अत: यह मानने में हमें आपत्ति नहीं होना चाहिए कि यह समग्र विवरण हिन्दू परम्परा से प्रभावित हैं।

कृष्ण के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में आगम साहित्य में समवायांग के पश्चात् कृष्ण का जो प्राचीन उल्लेख हमें प्राप्त होता है, वह हमें ज्ञाताधर्मकथा में मिलता है। विद्वानों ने ज्ञाताधर्मकथा को लगभग ईसा की द्वितीय शताब्दी के आसपास की रचना माना है। ज्ञाताधर्मकथा में कृष्ण सम्बन्धी उल्लेख उसके शैलक एवं द्रौपदी नामक अध्ययनों में है। यद्यपि द्रौपदी नामक अध्याय का मुख्य प्रतिपाद्य विषय तो द्रौपदी के पूर्वभव एवं वर्तमान भव का चित्रण है, किन्तु प्रसंगवश इसमें कृष्ण सम्बन्धी अनेक विवरण उपलब्ध हैं। विशेष उल्लेखनीय यह है कि यहां द्रौपदी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के पॉच पति होने की कथा को स्वीकारते हुए भी उसके व्यक्तित्व की चारित्रिक गरिमा को बनाये रखने के लिए उसके पूर्वभव की कथा भी जोड़ी गई । कथा का सारांश यह है कि द्रौपदी पूर्वभव में अपनी गुरुणी की आज्ञा न मानकर वनखण्ड में स्थित हो उग्र तपस्या करती है और प्रसंगवशात् वह वहां एक वेश्या को पॉच प्रेमियों के साथ क्रीड़ा करते हुए देखती है। उस समय वह यह निश्चय कर बैठती है कि यदि मेरी तपस्या का फल हो तो मुझे भी भविष्य में पॉच पतियों के साथ ऐसी क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त हो। इस निश्चय (निदान) का परिणाम यह होता है कि उसे अपने वर्तमान भव में पॉच पाण्डवों की पत्नी बनना पड़ता है। इस प्रकार यहां हिन्दू परम्परा में प्रचलित द्रौपदी की कथा को अधिक सुसंगत और तार्किक बनाने का प्रयत्न किया गया है, ताकि द्रौपदी के निर्मल चरित्र को बिना खरोंच पहुॅचाये ही पॉच पतियों वाली घटना को तर्कसंगत रूप में प्रस्तुत किया जा सके। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि यहॉ द्रौपदी और पॉच पाण्डवों को जैन धर्म का अनुयायी बताया गया है। मात्र यही नहीं नारद को असंयमी परिव्राजक के रूप में चित्रित करके जैन धर्म की अनुगामिनी द्रौपदी द्वारा समुचित आदर न देने की घटना का भी उल्लेख है। इससे ऐसा लगता है कि ज्ञाताधर्मकथा के इस कथा प्रसंग की रचना के समय तक जैन संघ में धार्मिक कट्टरता का प्रवेश हो चुका था क्योंकि जहां जैन परम्परा के प्राचीन स्तर के आगम ग्रन्थ ऋषिभाषित में देवनारद को अर्हत्ऋषि कहकर सम्मानित ढंग से उल्लिखित किया गया है वहां इस कथा-प्रसंग में नारद को असंयमी, अविरत और कलहप्रिय तथा पद्मनाभ के साथ मिलकर द्रौपदी के अपहरण की योजना बनाने वाला कहा गया है। उल्लेखनीय यह भी है कि इस नारद को कडच्छुप नारद कहा गया है। यद्यपि यह विवादास्पद ही है कि ऋषिभाषित के देवनारद और ज्ञाता के कडच्छुप नारद एक ही व्यक्ति हैं या अलग-अलग, यह कहना कठिन है।

द्रौपदी के इस कथा प्रसंग में प्रसंगवश पांचों पाण्डवों, कुन्ती और श्रीकृष्ण का उल्लेख भी है। कथा के अनुसार द्रौपदी का पद्मनाभ द्वारा अपहरण हो जाने पर पाण्डव चिन्तित होते हैं तथा द्रौपदी को खोजने में श्रीकृष्ण को ही समर्थ मानकर अपनी माता कुन्ती को श्रीकृष्ण के पास भेजकर द्रौपदी की खोज के लिए उनसे निवेदन करते हैं। इसमें कुन्ती को कृष्ण की पितृभगिनी कहा गया है। कृष्ण कुन्ती को आश्वस्त करते हैं कि मैं द्रौपदी की खोज करूंगा। वे नारद से द्रौपदी के अपहरण की घटना की जानकारी प्राप्त करते हैं तथा पाण्डवों को यह संदेश देते हैं कि वे पूर्व दिशा में गंगा नदी और समुद्र के संगम स्थल पर ससैन्य तैयार होकर पहुॅचें । कृष्ण स्वयं भी ससैन्य वहां पहुॅचकर लवण समुद्र के मार्ग से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाण्डवों के साथ पद्मनाभ की राजधानी अमरकंका पहुँचते हैं। इसी प्रसंग में पद्मनाभ के पास दूत का भेजना, पद्मनाभ से युद्ध में पाण्डवों का पराजित होना, अन्त में श्री कृष्ण द्वारा पद्मनाभ को पराजित करना और द्रौपदी को वापस प्राप्त करने के उल्लेख हैं। इस कथा प्रसंग में श्री कृष्ण के पुरुषार्थ और पराक्रम के चर्चा के साथ-साथ यह भी उल्लेख हुआ है कि द्रौपदी सहित पांचों पाण्डव और श्रीकृष्ण जब वापस आते हैं तब पाण्डव नौका द्वारा पहले गंगा पार कर लेते हैं, किन्तु गंगा पार करने के लिए श्री कृष्ण को वापस नौका नहीं भेजते हैं। फलत: वे गंगा नदी को तैरकर पार करते हैं और पाण्डवों पर कुपित हो उन्हें देश निर्वासन की आज्ञा देते हैं। पाण्डव कुन्ती के पास पहुँचते हैं और सारी घटना उसे सुनाते हैं। कुन्ती पुन: कृष्ण के पास पहुँचती है और श्री कृष्ण से अपने पुत्रों के देश निर्वासन की आज्ञा को वापस लेने की प्रार्थना करती है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि वासुदेव के वचन मिथ्या नहीं होते, अत: देश निर्वासन की आज्ञा वापस लेना सम्भव नहीं है। अन्त में वे पाण्डवों को दक्षिण दिशा में जाकर समुद्र के किनारे पाण्डु-मदुरा नामक नगर बसाकर वहां रहने का आदेश देते हैं। यद्यपि यहां कुछ भौगोलिक असंगतियाँ परिलक्षित होती हैं- प्रथम तो यह कि दक्षिण-मदुरा (मदुराई) दक्षिण में होकर भी समुद्र के किनारे नहीं है, दूसरे पूर्वीय समुद्र तट से लौटते हुए मार्ग में गंगा का पड़ना आवश्यक नहीं है।

प्रस्तुत कथा-प्रसंग श्रीकृष्ण को पाण्डवों का मित्र एक शूरवीर योद्धा तथा दक्षिणार्ध भरतक्षेत्र के स्वामी के रूप में चित्रित करता है। विशेषता यह है कि यहां पर श्रीकृष्ण और पाण्डवों के चरित्र के प्रसंग में महाभारत के युद्ध का कोई उल्लेख नहीं है। उसके स्थान पर अमरकंका में पद्मनाभ से हुए युद्ध का चित्रण है, समानता मात्र यह है कि दोनों ही युद्धों का कारण द्रौपदी है। जहां तक मेरी जानकारी है हिन्दू परम्परा में कृष्ण चरित्र के चर्चा प्रसंग में कहीं भी अमरकंका के पद्मनाभ के साथ उनके युद्ध का कोई उल्लेख नहीं है। मात्र यही नहीं श्रीकृष्ण का पाण्डवों पर कुपित होना, उन्हें देश निर्वासन की आज्ञा देना आदि प्रसंग भी अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होते। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि ज्ञाताधर्मकथा में कृष्ण के जीवन प्रसंग के उल्लेख महाभारत एवं श्रीमद्भागवत में कृष्ण के जीवन चरित्र के उल्लेखों से अनेक दृष्टि से भिन्न और प्राचीन हैं।

ज्ञाताधर्मकथा के ही पांचवें शैलक नामक अध्ययन में थावच्चापुत्र के दीक्षित होने के प्रसंग में श्री कृष्ण, उनकी राजधानी द्वारिका और उनके परिवार का उल्लेख उपलब्ध होता है। उसमें बताया गया है कि द्वारिका नगरी पूर्व-पश्चिम में १२ योजन लम्बी और उत्तर-दक्षिण में ९ योजन चौड़ी थी। यह कुबेर की मति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से निर्मित हुई थी । इन्द्र की नगरी अलकापुरी के समान जान पड़ती थी। इस नगर के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा अर्थात् ईशानकोण में रैवतक (गिरनार) पर्वत था तथा रैवतक पर्वत और द्वारिका के बीच में नन्दनवन नामक उद्यान था। इस द्वारिका नगरी में कृष्ण नामक वासुदेव राजा राज्य करते थे। इस नगर में समुद्रविजय आदि दस दशार्ह, बलदेव, आदि पांच महावीर, उग्रसेन आदि सोलह हजार राजा, प्रद्युम्न आदि साढ़े तीन करोड़ कुमार, शाम्ब आदि साठ हजार दुर्दान्त योद्धा, वीरसेन आदि एक्कीस हजार पराक्रमी, महासेन आदि छप्पन हजार बलवान पुरुष, रुक्मिणी आदि बत्तीस हजार रानियां, अनंग सेना आदि अनेक गणिकाएं बहुत से ईश्वर (धनाढ्य सेठ), तलवर (कोतवाल), सार्थवाह आदि निवास करते थे। उन कृष्ण वासुदेव का उत्तर दिशा में वैताढ्य पर्वत पर्यन्त तथा तीनों दिशाओं में लवण समुद्र पर्यन्त शासन था। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन मात्र कृष्ण के पारिवारिक एवं राजकीय वैभव का चित्रण करता है। यद्यपि इस अध्ययन में दो अन्य प्रमुख घटनाएं कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित हैं - प्रथम तो यह कि कृष्ण को जब यह ज्ञात होता है कि अर्हत् अरिष्टनेमि द्वारिका के बाहर उद्यान में पधारे हैं तो वे अपने समस्त राज्य परिवार के साथ उनके दर्शन को जाते हैं तथा उपदेश सुनते हैं। अरिष्टनेमि के उपदेश से थावच्चा नामक गाथापत्नी के पुत्र को वैराग्य उत्पन्न होता है। कृष्ण उसके वैराग्य की परीक्षा करते हैं तथा अत्यंत वैभवशाली अभिनिष्क्रमण महोत्सव का आयोजन करते हैं। वैसे इस अध्याय में श्री कृष्ण की राज्य सम्पदा तथा उदारवृत्ति का परिचय तो मिलता है किन्तु उनके जीवन प्रसंगों का कोई उल्लेख नहीं है ।

जैन आगम साहित्य में एक अन्य ग्रन्थ प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी कृष्ण के राज्य और परिवार का विस्तार से वर्णन किया गया है। ज्ञाताधर्मकथा के शैलक अध्ययन में वर्णित कृष्ण के राज्य और परिवार के विवरण से प्रश्नव्याकरण के विवरण की तुलना करने पर हमें कुछ नवीन सूचनाएं प्राप्त होती हैं। इसमें कृष्ण की सोलह हजार रानियों का उल्लेख है। प्रश्नव्याकरण का यह विवरण ज्ञाताधर्मकथा के विवरण से इस अर्थ में विशेषता रखता है कि यहां कृष्ण के जीवन के संदर्भ में हिन्दू परम्परा में उल्लिखित अनके घटनाओं का उल्लेख हुआ है। इसमें कृष्ण के द्वारा मुष्टिक और चाणूर नामक मल्लों का, रिष्ट नामक दुष्ट बैल का, कालिया नामक नाग का, यमुनार्जुन नामक राक्षस का, महाशकुनि और पूतना नामक दो विद्याधारियों का तथा कंस और जरासंध नामक दो शक्ति सम्पन्न राजाओं का संहार करने का उल्लेख मिलता है। प्रश्नव्याकरण में कृष्ण का यह जीवन-वृत्त विस्तृत रूप में उपलब्ध है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कृष्ण के जीवन प्रसंगों के सन्दर्भ में अधिक विस्तृत चर्चा करने वाले जैन आगम ग्रन्थों में अन्तकृत्दशा महत्त्वपूर्ण है। यहां स्मरणीय है कि वर्तमान में उपलब्ध अन्तकृत्दशा की विषयवस्तु पर्याप्त रूप से परिवर्तित हो गई है, क्योंकि अन्तकृत्दशा की विषयवस्तु के सन्दर्भ में स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र, तत्त्वार्थराजवार्तिक, समवायांगवृत्ति, नन्दीचूर्णि एवं अंगप्रज्ञप्ति में जो उल्लेख हैं, उनमें परस्पर भिन्नता है और अन्तकृत्दशा की वर्तमान विषयवस्तु से पूर्णत: मेल नहीं खाते। अन्तकृत्दशा में कृष्ण और उनके परिजनों का उल्लेखयुक्त जो विवरण उपलब्ध हुआ है वह ईसा की छठी शताब्दी से अधिक परवर्ती नहीं माना जा सकता। क्योंकि नन्दीसूत्र में अन्तकृत्दशा के आठ वर्गों के और नन्दीचूर्णि में प्रथम वर्ग के दस अध्ययन होने का उल्लेख है जो कि वर्तमान अन्तकृत्दशा के विषयवस्तु से समानता रखता है। समवायांगवृत्ति में भी इसके वर्तमान स्वरूप का उल्लेख प्राप्त हो जाता है। अत: नन्दी, नन्दीचूर्णि और समवायांगवृत्ति के पूर्व ही इसको यह स्वरूप प्राप्त हो गया था । ऐसी स्थिति में इसे छठी या सातवीं शताब्दी से अधिक परवर्ती नहीं कहा जा सकता। अन्तकृत्दशा के आठ वर्गों में प्रथम पांच वर्ग और उनके उनपचास अध्ययन श्रीकृष्ण और उनके परिजनों से सम्बन्धित हैं। प्रथम वर्ग में गौतम, समुद्रसागर, अक्षोभ आदि दस व्यक्तियों का वर्णन है। इन सबके पिता अन्धकवृष्णि और माता धारिणी बताये गए हैं। अन्धकवृष्णि कृष्ण के दादा होते हैं। अत: इस आधार पर ये सभी कृष्ण के चाचा कहे जा सकते हैं।

दूसरे वर्ग में आठ अध्याय हैं। उनमें से सागर, समुद्र, अचल और अक्षोभ ये चार नाम पूर्व वर्ग में भी आये हैं। शेष चार नाम हिमवन्त, धरण, पूर्ण और अभिचन्द नवीन हैं। इन्हें भी अन्धकवृष्णि का पुत्र कहा गया है। इस प्रकार ये सभी कृष्ण के चाचा माने जा सकते हैं । इन दोनों वर्गों में केवल इन सबके अरिष्टनेमि के पास दीक्षित होकर तप साधना करने का उल्लेख है। अन्य कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। तृतीय वर्ग में तेरह अध्ययन हैं। इन अध्ययनों में से प्रथम छ: अध्ययन अनियसेन, अनन्तसेन, अनहित, विद्धुत, देवयश ओर शत्रुसेन से सम्बन्धित हैं। ये सभी कुमार भद्दिलपुर निवासी सुलसा नामक गाथा पत्नी के पुत्र कहे गये हैं। किन्तु इसी वर्ग के आठवें अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी सुलसा के पालित पुत्र थे। वस्तुत: ये सभी देवकी और वसुदेव के ही पुत्र हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण के सहोदर थे। इनका पालनपोषण क्यों और किसप्रकार सुलसा के द्वारा हुआ यह चर्चा हम बाद में गजसुकुमाल की कथा के प्रसंग में करेंगे । इन छहों के अतिरिक्त कृष्ण के अन्य सहोदर गजसुकुमाल का भी विस्तृत वर्णन इस वर्ग में है। गजसुकुमाल के जीवनवृत्त की चर्चा हम आगे स्वतंत्र रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में करेंगे। इस वर्ग में अन्य जिन व्यक्तियों का उल्लेख है उनमें सारन, दारुक और अनाधृष्टि भी हैं जो वसुदेव और धारिणी के पुत्र थे और इसप्रकार वे भी अन्य माता से उत्पन्न श्रीकृष्ण के ही भाई थे। अन्य व्यक्तियों में सुमुख, दुर्मुख और कूपदारक ये तीन बलदेव के पुत्र थे और ये तीनों श्रीकृष्ण के भतीजे थे। इस प्रकार तीसरे वर्ग में कृष्ण के दस भाइयों और तीन भतीजों का उल्लेख है। चतुर्थ वर्ग में जो दस अध्ययन हैं उनमें जालि, मयालि, उपालि, पुरुषसेन और वायुसेन ये पांच वसुदेव और धारिणी के पुत्र कहे गये हैं। इस प्रकार ये भी श्रीकृष्ण के भाई थे। प्रद्युम्न और शाम्ब ये दो कृष्ण के पुत्र थे। यद्यपि इनमें प्रद्युम्न की माता रुक्मिणी और शाम्ब की माता जाम्बवंती थीं। अनिरुद्ध कुमार को प्रद्युम्न और वैदर्भी का पुत्र बताया गया है। इस प्रकार अनिरुद्ध कृष्ण के पौत्र हैं। सत्यनेमि और दृढ़नेमि समुद्रविजय और शिवादेवी के पुत्र कहे गये हैं। अत: ये अरिष्टनेमि के सहोदर और श्री कृष्ण के चचेरे भाई कहे जा सकते हैं।

इस प्रकार चौथे वर्ग में कृष्ण के दो चचेरे भाई, पांच भाई, दो पुत्र और एक पौत्र का उल्लेख है। पांचवें वर्ग में १. पद्मावती २. गौरी ३. गान्धारी ४. लक्ष्मणा ५. सुसीमा ६. जाम्बवंती ७. सत्यभामा और ८. रुक्मिणी - इन आठ कृष्ण की पटरानियों एवं मूलश्री एवं मूलदत्ता नामक दो पुत्रवधुओं का उल्लेख है। ये सभी रानियाँ द्वारिका के विनाश की भविष्यवाणी सुनकर अरिष्टनेमि के पास दीक्षित होने का निर्णय करती हैं और श्रीकृष्ण समारोह पूर्वक उन्हें प्रवज्या ग्रहण करवाते हैं । इनमें मूलश्री और मूलदत्ता कृष्ण और जाम्बवंती के पुत्र शाम्बकुमार की पत्नियां अर्थात् श्रीकृष्ण की पुत्रवधुएँ थीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्तकृत्दशा के प्रथम पॉच वर्ग और उनके उनपचास अध्याय श्री कृष्ण के परिवार से ही सम्बन्धित हैं। अन्तकृत्दशा में श्री कृष्ण के जिन परिजनों का उल्लेख हुआ है उनमें से अनेक तो ऐसे हैं जिनका नाम हमें हिन्दू परम्परा के अन्य ग्रन्थों में मिल जाता है। किन्तु उनमें कुछ ऐसे भी हैं जिनका उल्लेख हमें अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। चाहे इन सभी नामों की ऐतिहासिकता विवादास्पद हो, किन्तु इससे कृष्ण और उनके परिजनों का जैन परम्परा में क्या स्थान है, यह स्पष्ट हो जाता है ।

द्वारिका के विनाश एवं श्रीकृष्ण के भावी तीर्थकर होने की भविष्यवाणी

प्रस्तुत अष्टम अंग आगम श्रीकृष्ण जीवनवृत्त के सम्बन्ध में कुछ नई सूचनाएं भी प्रदान करता है। इसमें द्वारिका के विनाश की कथा एक भिन्न ढंग से चित्रित की गई है। यद्यपि उस पर हिन्दू परम्परा का स्पष्ट प्रभाव भी देखा जा सकता है। अंतकृत्दशा के अनुसार श्रीकृष्ण अरिष्टनेमि से द्वारिका के भविष्य के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भ में प्रश्न पूछते हैं। अपने परिजनों को अरिष्टनेमि के पास दीक्षित होता देखकर उनके मन में एक आत्मग्लानि उत्पन्न होती है कि मैं इस राज्य लक्ष्मी का त्याग करके प्रभु के पास प्रव्रज्या ग्रहण करने में अपने को असमर्थ क्यों अनुभव कर रहा हूँ तथा राज्य और अन्त:पुर में गृद्ध बना हुआ हूँ। अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के इस मनोभाव को जानकर कहते हैं कि हे कृष्ण! सभी वासुदेव राजा निदान करके जन्म लेते हैं अत: उनके द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण करना सम्भव नहीं होता। यहां कृष्ण अरिष्टनेमि से अपनी मृत्यु और भावी जीवन के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं । अरिष्टनेमि उन्हें बताते हैं कि यादवकुमार मद्यपान करके जब द्वैपायन ऋषि को क्रुद्ध करेंगे, तब द्वैपायन ऋषि अग्निकुमार देव होकर इस द्वारिका का विनाश करेंगे। उस समय तुम अपने माता-पिता और स्वजनों के वियोग से दु:खी होकर बलराम के साथ दक्षिणी समुद्र तट की ओर पाण्डु-मथुरा की ओर प्रस्थान करोगे। रास्ते में कौशाम्बवन उद्यान में तुम पीताम्बर ओढ़कर सोओगे। उस समय जराकुमार मृग के भ्रम में तुम पर तीर चलाएगा। उस तीर से विद्ध होकर तुम तीसरी पृथ्वी में उत्पन्न होओगे। वहां की आयु पूर्ण कर इसी जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में पुण्ड्र जनपद की शतद्वारा नामक नगरी में अमम नाम के बारहवें तीर्थंकर होगे (द्रष्टव्य है कि समवायांग-सूत्र में भविष्यकालीन तीर्थंकरों में अमम का नाम १३वां बताया गया है)। श्रीकृष्ण द्वारिका के विनाश और अपनी मृत्यु की भविष्यवाणी सुनकर द्वारिका के निवासिओं और अपने परिजनों को अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या लेने हेतु प्रोत्साहित करते हैं। परिणामस्वरूप कृष्ण की अनेक रानियां और पुत्र-परिजन प्रव्रज्या ग्रहण कर लेते हैं ।

कृष्ण के लघुभ्राता गजसुकुमाल की कथा

अन्तकृत्दशा में कृष्ण के सात भाईयों का उल्लेख हमें उपलब्ध होता है। जिनमें से अनियसकुमार आदि छ: का पालन-पोषण भद्दिलपुर नगर के नाग नामक गाथापति की पत्नी सुलसा द्वारा होता है। कथा के अनुसार देवकी को किसी भविष्यवेत्ता ने एक सरीखे आठ पुत्रों को जन्म देने की भविष्यवाणी की थी। इस प्रकार सुलसा को भी मृतपुत्र होने की भविष्यवाणी की थी। सुलसा ने हरिणेगमेषी नामक देव की आराधना की और वह देव प्रसन्न हुआ। कथा प्रसंग के अनुसार देवकी और सुलसा साथ-साथ गर्भवती होती हैं और साथ-साथ प्रसव भी करती हैं। पुत्र प्रसव के समय वह देव सुलसा के मृत पुत्रों को देवकी के पास और देवकी के पुत्रों को सुलसा के पास रख देता था। इस प्रकार देवकी के प्रथम छ: पुत्र सुलसा के द्वारा पालित और पोषित हुए। कालान्तर में सुलसा के ये छहो पुत्र अरिष्टनेमि के पास दीक्षित हो गये। संयोग से किसी समय वे छहो सहोदर भाई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देवकी के गृह पर दो-दो के समूह में भिक्षार्थ आते हैं। उनके समरूप और समवयस्क होने के कारण देवकी को यह भ्रम हो जाता है कि वे ही मुनि बार-बार भिक्षा के लिए आ रहे हैं। निर्ग्रन्थ श्रमण किसी भी घर में भिक्षार्थ दूसरीबार प्रवेश नहीं करता। अत: वह तीसरे समूह में आये मुनियों से अन्त में यह बात पूछ ही लेती हैं कि क्या द्वारिका नगरी में मुनियों को आहार उपलब्ध होने में कठिनाई हो रही है जिसके कारण आपको बार-बार मेरे द्वार पर आना पड़ रहा है। मुनि वस्तुस्थिति को स्पष्ट करते हैं कि हम छहो भाई एक सरीखे हैं और इसी कारण आपको ऐसा भ्रम हो गया है। देवकी को अपनी भविष्यवाणी का स्मरण होता है कि मुझे एक सरीखे आठ पुत्रों की भविष्यवाणी की गई थी, किन्तु मेरी अपेक्षा यह सुलसा ही भाग्यवान है। वह अपनी इस मनोव्यथा के स्पष्टीकरण के लिए अरिष्टनेमि के पास जाती है और अरिष्टनेमि उसे बताते हैं कि ये छहो भाई वस्तुत: तुम्हारे ही पुत्र हैं। सुलसा ने तो इनका पालन-पोषण ही मात्र किया है। देवकी वापस लौटकर अत्यन्त शोकाकुल होती है और विचार करती है कि मैंने सात पुत्रों को जन्म दिया किन्तु उनमें से किसी की भी बालक्रीड़ा का अनुभव नहीं कर सकी, क्योंकि छ: सुलसा के द्वारा और एक नन्द और यशोदा के द्वारा पालित पोषित किये गए। देवकी यह विचार कर ही रही थी कि उसी समय श्रीकृष्ण माता के चरण वन्दन हेतु आते हैं और माता की चिन्ता का कारण पूछते हैं। देवकी सारी वस्तुस्थिति को स्पष्ट करती है। श्रीकृष्ण अपनी माता के दु:ख को दूर करने के लिये तथा अपने एक और सहोदर भाई उत्पन्न होने के लिए पौषधशाला में जाकर तीन दिन का उपवास कर देव का आराधन करते हैं । देव प्रसन्न होकर कहता है कि निश्चय ही तुम्हें एक छोटा भाई प्राप्त होगा, किन्तु अल्पवय में ही वह दीक्षित हो जाएगा। कालान्तर में देवकी को पुत्र प्रसव होता है। श्रीकृष्ण अपने लघुभ्राता को युवावस्था प्राप्त होते देखकर सोमिल ब्राह्मण की कन्या सोमा से उसके विवाह का निर्णय करते हैं। दूसरी ओर द्वारिका के बाहर उद्यान में अरिष्टनेमि का आगमन होता है। अरिष्टनेमि के उपदेशों को सुनकर गजसुकुमाल को वैराग्य हो जाता है। माता-पिता और भाई के सांसारिक भोग भोगने के लिये अत्यन्त आग्रह के बाद भी गजसुकुमाल दीक्षित होने का निर्णय लेते हैं। श्रीकृष्ण उनका दीक्षा महोत्सव करते हैं। गजसुकुमाल दीक्षित होने के दिन ही भिक्षु-प्रतिमा अंगीकार कर लेते हैं और महाकाल श्मशान में ध्यानमग्न खड़े हो जाते हैं। उधर से गजसुकुमाल का भावी श्वसुर सोमिल ब्राह्मण निकलता है, गजसुकुमाल को मुण्डित श्रमण देखकर कुपित होता है। उनके सिर पर मिट्टी की पाल बनाकर धधकते अंगारे रख देता है। गजसुकुमाल ध्यान से विचलित न होते हुए उस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वेदना को सहन करते हैं तथा अपने मन में किसी प्रकार का द्वेष या आक्रोश नहीं लाते और उसी दिन मुक्ति को प्राप्त करते हैं। श्रीकृष्ण अपने लघुभ्राता के दर्शन के लिए अरिष्टनेमि के पास जाते हैं और उनसे सारे घटना चक्र को जानने की अपेक्षा करते हैं। अरिष्टनेमि उन्हें केवल इतना ही बताते हैं कि जिस प्रकार तुमने एक वृद्ध को सहयोग देकर दुःख मुक्त किया था उसी प्रकार तुम्हारे भाई को भी एक व्यक्ति ने सहयोग देकर संसार चक्र से मुक्त कर दिया है। इसी कथा प्रसंग में अवान्तर रूप से श्रीकृष्ण की सहयोग भावना का निम्न प्रसंग हमें मिलता है-

श्रीकृष्ण अपने लघु भ्राता गजसुकुमाल के साथ जब अरिष्टनेमि के वन्दन को जाते हैं, तो उन्हें मार्ग में ईंटों का एक बहुत बड़ा ढेर दिखाई पड़ता है। वे देखते हैं कि एक वृद्ध जो अत्यन्त जर्जर और क्षीणकाय है उस विशालकाय ढेर में से एक-एक ईंट उठाकर घर के अन्दर रख रहा है। श्रीकृष्ण उसकी उस पीड़ा को देखकर हाथी पर बैठे हुए ही एक ईंट उठाते हैं और उसके घर में डाल देते हैं। श्रीकृष्ण के साथ आनेवाला समुदाय और सैन्यबल भी उनका अनुसरण करता है और इसप्रकार अल्पसमय में ही वह विशालकाय ईंटों की राशि वृद्ध के घर पहुँच जाती है।

यहां हम देखते हैं कि अन्तकृत्दशा में वर्णित कथा प्रसंग में अनियस आदि देवकी के छह पुत्रों की सुलसा के मृत पुत्रों के साथ परिवर्तन की घटना गजसुकुमाल के जन्म और दीक्षा की कथा तथा श्रीकृष्ण के द्वारा उस वृद्ध को सहयोग देने की अवान्तर कथा, ये सभी उल्लेख जैन परम्परा के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं पाये जाते। हिन्दू परम्परा में देवकी श्रीकृष्ण से पूर्व होने वाले पुत्र-पुत्रियों के जो उल्लेख हैं वे इस कथा से एकदम भिन्न हैं। फिर भी दोनों में इतना साम्य अवश्य है कि दोनों परम्पराओं में कंस के कोप से बचने के लिए देवकी पुत्रों का स्थानान्तरण हुआ है।

श्री कृष्ण के पूर्वज

वसुदेवहिण्डी में श्रीकृष्ण के पूर्व पूर्वजों की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि हरिवंश में सोरि और वीर नामक दो भाई उत्पन्न हुए। सोरि ने अपनी राजधानी सोरिकुल में स्थापित की और वीर ने सौवीर में। ये दोनों एक दूसरे के प्रति अत्यन्त अनुराग रखते थे और कोष, कोष्ठागार एवं राज्य आदि का विभाजन किये बिना ही राज्यश्री का उपभोग करते थे। सोरि के पुत्र अन्धकवृष्णि और उनकी पत्नी से समुद्रविजय आदि दस पुत्र और कुन्ती एवं माद्री नामक दो कन्यायें उत्पन्न हुईं। दूसरी ओर वीर का पुत्र भोगवृष्णि हुआ। उसका पुत्र उग्रसेन और उग्रसेन के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुत्र बन्धु, सुबन्धु, कंस आदि हुए। अन्धकवृष्णि के दस पुत्रों में वसुदेव दसवें पुत्र थे। इसी प्रसंग में समुद्रविजय आदि के पूर्वभव की चर्चा की गई है। वसुदेव के पूर्व भव की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि वह पूर्वभव में नन्दिसेन था।

तुलनात्मक विवरण

जहां तक कृष्ण के माता-पिता के नाम और जन्म का प्रश्न है, जैन परम्परा और हिन्दू परम्परा में विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ही परम्पराएँ कृष्ण को वासुदेव एवं देवकी का पुत्र मानती हैं तथा जन्म के पश्चात् यशोदा के द्वारा उनके लालन-पालन की बात भी स्वीकार करती है। दोनों परम्पराओं के अनुसार कृष्ण के अन्य सात भाइयों का उल्लेख हुआ है। किन्तु दोनों परम्पराओं में कृष्ण के अन्य भाइयों के कथानक के सम्बन्ध में अन्तर पाया जाता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार बलभद्र और श्रीकृष्ण के जन्म के पूर्व देवकी के छः पुत्रों को कंस पछाड़कर मार डालता है। यद्यपि जैन ग्रन्थ वसुदेवहिण्डी में भी कंस के द्वारा देवकी के छः पुत्रों के मार डालने का उल्लेख है किन्तु जिनसेन के उत्तरपुराण तथा हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र में तथा अन्तकृत्दशा के अनुसार देवकी के गर्भ से उत्पन्न ये छहो पुत्र हरिणेगमेष नामक देवता के द्वारा सुलसा के यहाँ पहुँचा दिये गये और सुलसा के मृत पुत्रों को देवकी के पास लाकर रख दिया जाता है। इस प्रकार जैन परम्परा मुख्य रूप से कृष्ण के सहोदर इन छः भाइयों को सुलसा के द्वारा पालित मानती है जो आगे चलकर तीर्थंकर नेमि के पास दीक्षित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार बलभद्र का देवकी के गर्भ से विष्णु के आदेश एवं योगमाया शक्ति के द्वारा रोहिणी के गर्भ में संहरण है जबकि जैन परम्परा के किसी भी ग्रन्थ में इस संहरण की घटना का उल्लेख नहीं है। बल्कि यह पाया जाता है कि बलभद्र रोहिणी के गर्भ से सहज जन्म लेते हैं। यद्यपि यहां यह स्मरणीय तथ्य अवश्य है कि जैन परम्परा में जो महावीर के गर्भ संहरण की बात कही जाती है वह मूल में कहीं बलदेव के गर्भ-संहरण की घटना से प्रभावित तो नहीं है, जिसे जैनों ने अपने अनुरूप मोड़ लिया हो। बलभद्र को कृष्ण का सहोदर भाई न मानने के कारण जैन परम्परा में कृष्ण के सात भाइयों की संख्यापूर्ति के लिए गजसुकुमाल की कथा का विकास हुआ।

श्रीकृष्ण के यशोदा के यहाँ स्थानान्तरण की बात दोनों परम्पराएं समान रूप से स्वीकार करती हैं, किन्तु जहाँ श्रीमद्भागवत में यशोदा के गर्भ से जन्मी पुत्री को, जो कि विष्णु की योगमाया का ही स्वरूप थी, कंस पटक कर मार डालने का प्रयत्न करता है, किन्तु योगमाया होने के कारण वह मृत नहीं होती है तथा आकाश में चली जाती है और काली, दुर्गा आदि की शक्ति के रूप में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूजी जाती है वहां जैन परम्परा में वासुदेवहिण्डी और जिनसेन के उत्तरपुराण के कथनानुसार कंस उसे मारता नहीं है अपितु नाक काटकर अथवा नाक चपटी करके छोड़ देता है। यही बालिका आगे साध्वी के रूप में दीक्षित हो जाती है और अपनी ध्यानसाधना के द्वारा देव-गति को प्राप्त करती है।

किन्तु हरिवंश में जिनसेन (द्वितीय) ने यह उल्लेख किया है कि उसकी अंगुली के रक्त से सने हुए तीन टुकड़े से वह त्रिशूलधारिणी काली के रूप में विन्ध्याचल (मिर्जापुर के समीप) में प्रतिष्ठित हो जाती है। जिनसेन ने इस देवी के सम्मुख होनेवाले भैंसों के वध की भी चर्चा की है जो विन्ध्याचल में आज तक प्रचलित है। इस प्रकार जिनसेन द्वितीय ने इस कथानक को हिन्दू परम्परा के साथ जोड़ा है।

कृष्ण की बाल लीलाओं के सम्बन्ध में दोनों परम्पराएँ लगभग समान मन्तव्य रखती हैं। यद्यपि श्रीमद्भागवत के अनुसार कंस के द्वारा भेजे गये सभी असुर आदि कृष्ण या बलभद्र के द्वारा मार डाले जाते हैं, जबकि जिनसेन प्रथम तो जैनों के अहिंसा के दृष्टिकोण के आधार पर इन्हें राक्षस न कहकर देव या देवियाँ कहता है। दूसरे कृष्ण या बलदेव उन्हें मारते नहीं है अपितु हराकर जीवित ही छोड़ देते हैं। यद्यपि प्रश्नव्याकरणसूत्र के अनुसार कृष्ण के द्वारा इन्हें मारे जाने का उल्लेख है। हेमचन्द्र अपने त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित में जिनसेन के समान ही यह मानते हैं कि श्रीकृष्ण इन्हें हराकर भगा देते हैं। जहां जिनसेन प्रथम ने इन्हें देवी-देवता के रूप में स्वीकार किया है, वहीं हरिवंशपुराण में जिनसेन द्वितीय इनका कंस के द्वारा भेजे गये उन्मत्त प्राणियों के रूप में उल्लेख करते हैं।

जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके है कि जहां हिन्दू परम्परा में पाण्डवों एवं कृष्ण के जीवन के साथ महाभारत के युद्ध की घटना जुड़ी हुई है वहां जैन आगम ग्रन्थों में महाभारत की घटना का सर्वथा अभाव है। यद्यपि परवर्ती जैन लेखकों ने महाभारत की घटना का उल्लेख किया है।

जहां हिन्दू परम्परा कंस को कृष्ण के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी के रूप में चित्रित करती है वहां जैन परम्परा में कृष्ण का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी जरासन्ध को माना गया है। क्योंकि वह प्रतिवासुदेव है और उस पर विजय प्राप्त करके ही कृष्ण वासुदेव के पद को प्राप्त करते हैं।

यद्यपि यादवों और द्वारका के विनाश के मूल में यदुवंशी का मद्यपायी होना दोनों ही परम्परा में समान्य रूप से स्वीकार किया गया है । फिर भी जैन परम्परा में द्वारका और यादव वंश के विनाश को कुछ भिन्न तरीके से चित्रित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया गया है। जैन परम्परा के अनुसार द्वारका और यादव वंश के विनाश की भविष्यवाणी सुनकर श्रीकृष्ण यह घोषणा करवाते हैं कि जो भी व्यक्ति अरिष्टनेमि के पास दीक्षित होगा उसके परिवार के पालन-पोषण की व्यवस्था राज्य करेगा। इसी प्रसंग में कृष्ण के द्वारा अपनी आठों पत्नियों, पुत्रवधुओं आदि को अरिष्टनेमि के पास दीक्षित करवाने के भी उल्लेख मिलते हैं।

जहां तक श्रीकृष्ण की मृत्यु (लीला संहरण) का प्रश्न है दोनों ही परम्पराएँ जराकुमार के बाण से उनकी मृत्यु का होना स्वीकार करती हैं। किन्तु जहां वैष्णव परम्परा के अनुसार वे नित्यमुक्त हैं और अपनी लीला का संहरण कर गोलोक में निवास करने लगते हैं वहां जैन परम्परा के अनुसार वे अपनी मृत्यु के पश्चात् भविष्य में आगामी उत्सर्पिणी में भरतक्षेत्र में १२वें अमम नामक तीर्थंकर होकर मुक्ति को प्राप्त करेंगे - ऐसा उल्लेख है। इस प्रकार दोनों परम्पराएँ यद्यपि कृष्ण के जीवनवृत्त को अपने विवेचन का आधार बनाती हैं, फिर भी दोनों ने उसे अपने-अपने अनुसार मोड़ने का प्रयास किया है। जैसा कि हमने संकेत किया है कि श्रीकृष्ण के जीवन में ऐसी अनेक घटनाएँ है जिनका विवरण हमें जैन ग्रन्थों में ही मिलता है, पौराणिक साहित्य में नहीं मिलता। श्री कृष्ण के पद्मोत्तर से हुए युद्ध के वर्णन तथा गजसुकुमाल के जीवन की घटना, उनका नेमिनाथ के साथ सम्बन्ध आदि ऐसी घटनाएँ हैं जिनका उल्लेख हिन्दू परम्परा में या तो नहीं है या बहुत अल्प है। जबकि जैन परम्परा में इनका विस्तार से वर्णन है। इस प्रकार कृष्ण के सम्बन्ध में जैन कथानकों का अपना वैशिष्ट्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार : एक अध्ययन

मूलाचार को आज दिगम्बर जैन परम्परा में आगमस्थानीय ग्रन्थ के रूप में मान्य किया जाता है। यह ग्रन्थ मुख्यत: साधु-साध्वियों के आचार से सम्बन्धित है। जैन परम्परा में अधिकांश आगमिक साहित्य मुख्यत: साधु-साध्वी के आचार अथवा उनके जीवन वृत्तों से सम्बन्धित है। मूलाचार भी एक आचारपरक ग्रन्थ है और यही कारण है कि धवला और जयधवला में इसकी गाथाओं को आचारांग की गाथा कहकर उद्धृत किया गया है। यद्यपि आचारांग भी मुनि-आचार का ग्रन्थ है, फिर भी आचारांग और मूलाचार में विषयवस्तु और प्रस्तुतीकरण की शैली की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अन्तर है। सम्भवत: जब दिगम्बर परम्परा में आचारांग को लुप्त मान लिया गया, तो उसके स्थान पर मूलाचार को ही आचारांग के रूप में देखा जाने लगा।

मूलाचार के सम्बन्ध में सर्वप्रथम विचारणीय प्रश्न यह है कि वह किस परम्परा का ग्रन्थ है? यह सुनिश्चित सत्य है कि यह श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं है। इसके दो कारण हैं - प्रथम तो यह कि यह मुनि के अचेलकत्व पर दिगम्बर परम्परा के समान ही बल देता है। यद्यपि आचारांग आदि कुछ प्राचीन स्तर के श्वेताम्बर मान्य आगम ग्रन्थों में अचेलकत्व का उल्लेख है, फिर भी वे अचेलकत्व पर उतना बल नहीं देते जितना कि मूलाचार में दिया गया है। आचारांग में अचेलकत्व का एकान्त रूप से प्रतिपादन नहीं हुआ है, उसके प्रथम श्रुतस्कन्ध में ही मुनि के वस्त्रग्रहण सम्बन्धी कुछ उल्लेख भी पाये जाते हैं। यही कारण था कि दिगम्बर परम्परा में उसे अस्वीकृत कर उसके भी लुप्त होने की घोषणा कर दी गयी। मूलाचार में मुनि के अचेलकत्व पर जो बल दिया गया है उससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा का नहीं है। दूसरे मूलाचार की भाषा मुख्यत: जैन शौरसेनी प्राकृत है। यह बात भिन्न है कि उस पर कहीं-कहीं महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव है। कोई भी ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा में शौरसेनी प्राकृत में नहीं लिखा गया है, अत: यह श्वेताम्बर परम्परा का ग्रन्थ नहीं हो सकता। इससे स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि क्या यह दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ है? इसे स्पष्ट रूप से दिगम्बर परम्परा का ग्रन्थ भी नहीं कहा जा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता। इसमें कुछ ऐसे तथ्य भी हैं जो दिगम्बर परम्परा में मान्य नहीं है। उदाहरणार्थ इसमें स्त्री-मुक्ति से सम्बन्धित निम्न गाथा पाई जाती है -

एवं विधाणचरियं चरितं जे साधवो य अज्जाओ ।
ते जगपुज्जं कित्ति सुहं च लध्दूण सिज्झंति ।।

इस गाथा में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि 'जो साधु-साध्वी इस प्रकार की चर्या का पालन करते हैं, वे जगत्पूज्यत्व एवं कीर्तिसुख को प्राप्त कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं। यद्यपि दिगम्बर परम्परा के कुछ विद्वानों ने इस गाथा की व्याख्या भवान्तर मुक्ति के सन्दर्भ में करके, इसे अपनी परम्परा से सम्बद्ध बताने का प्रयास किया है, जिस पर हम आगे विस्तृत चर्चा करेंगे। यहाँ हमारा मन्तव्य इतना ही है कि यह गाथा दिगम्बर परम्परा के विरोध में अवश्य जाती है।

जैन परम्परा आचार प्रधान है, यद्यपि उसमें साधनापथ में चारित्र के साथ-साथ ज्ञान और दर्शन (भक्ति) को भी स्थान प्राप्त है। किन्तु वे जब तक आचरण से संयुक्त नहीं होते तब तक मोक्ष की उपलब्धि कराने में सक्षम नहीं माने गये हैं। मोक्ष की उपलब्धि का अन्तिम कारण तो सम्यक् चारित्र ही माना गया है। उसमें दर्शन और ज्ञान भी आचरण का अंग है। स्वयं मूलाचार में दर्शन और ज्ञान को भी पॉच आचारों में परिगणित किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान और दर्शन मात्र बोध या आस्था की वस्तुएँ नहीं हैं, वे भी जीवन में जीने के लिए हैं।

मूलाचार में ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार के रूप में पाँच आचारों का उल्लेख पाया जाता है। इससे स्पष्ट है कि जैन परम्परा आचार प्रधान है। पुन: जैन आगमों में क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी के रूप में चार प्रकार की दार्शनिक विचारधाराओं का उल्लेख है। इनमें भी जैन अपने आप को क्रियावादी के ही निकट मानते हैं। आचारांगसूत्र के प्रारम्भ में ही महावीर ने कहा कि जो आत्मा को और उसके (चतुर्गति में) संचरण को अर्थात् पुनर्जन्म को मानता है, वही आत्मवादी, लोकवादी, क्रियावादी और कर्मवादी है।

इस प्रकार जैन परम्परा आचार प्रधान सिद्ध होती है। इस तथ्य का एक अन्य प्रमाण यह भी है कि जैन परम्परा में ग्रन्थ निर्माण की प्रक्रिया में सर्वप्रथम आचारांग की रचना हुई, ऐसा माना जाता है।

आज महावीर की निर्ग्रन्थ श्रमण परम्परा मुख्यत: दो भागों में विभाजित है। श्वेताम्बर और दिगम्बर । श्वेताम्बर परम्परा में आज भी जो प्राचीन आगमिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आचारदशा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(दशाश्रुतस्कंध) व्यवहार कल्प, जीतकल्प, निशीथ, महानिशीथ, आवश्यक आदि सभी मुनि आचार से सम्बन्धित हैं।

किन्तु दुर्भाग्य से दिगम्बर परम्परा के पास इन आचार प्रधान प्राचीन ग्रन्थों की कमी है। पण्डित नाथूराम जी प्रेमी के शब्दों में दिगम्बर परम्परा में मुनियों के आचार सम्बन्धी ग्रन्थों की बहुत कमी है। प्राचीन ग्रन्थों में ले देकर मूलाचार ही एक ग्रन्थ है जो प्राचीन जान पड़ता है। वीरनन्दि का आचारशास्त्र, आशाधर का अनगारधर्मामृत आदि उत्तरवर्ती ग्रन्थ इसीके आधार पर लिखे गये हैं। मूलाचार का दिगम्बर परम्परा या अचेल परम्परा में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है वह तो इससे ही सिद्ध हो जाता है कि तत्त्वार्थसूत्र की दिगम्बर टीकाओं तथा षट्खण्डागम की धवला टीका में आचारांग के नाम से मूलाचार की गाथाओं को ही उद्धृत किया गया है। मेरी जानकारी में सम्पूर्ण दिगम्बर जैन साहित्य में मुनि आचार का प्रतिपादक मूलाचार को छोड़कर अन्य कोई भी प्राचीन ग्रन्थ नहीं है। यद्यपि यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या मूलाचार वस्तुत: आचार्य कुन्दकुन्द की वर्तमान दिगम्बर जैन परम्परा का ग्रन्थ हो सकता है। इस प्रश्न पर हम आगे गम्भीरता से विचार करेंगे। फिर भी यह निर्विवाद है कि आज दिगम्बर जैन परम्परा इसे मुनि आचार के प्रतिपादक आगम स्थानीय ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करती है। इससे इस ग्रन्थ की महत्ता स्वंय ही स्पष्ट हो जाती है ।

यह भी प्रसन्नता का विषय है कि पूर्व के तीन संस्करणों "मुनि अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला गिरगॉव, मुम्बई ई. सन् १९१९; माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला १९१२, शान्तिसागर जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, फलटन १९५४ ई. के तीन स्थानों से प्रकाशित होने के पश्चात् अब यह मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत भारतीय ज्ञानपीठ से पुन: प्रकाशित हुआ है। जहॉ तक इस ग्रन्थ के समीक्षात्मक अध्ययन का प्रश्न है, पं. नाथूराम प्रेमी, पण्डित सुखलाल जी संघवी आदि कुछ विद्वानों के शोधपरक लेखों के अतिरिक्त यह ग्रन्थ उपेक्षित ही रहा। यद्यपि इन दोनों विद्वानों ने अपने लघु निबन्धों में इससे सम्बन्धित कुछ प्रश्नों पर अत्यन्त गम्भीरता से विचार किया है। यह हमारे लिए प्रसन्नता का विषय है कि डॉ. फूलचन्द 'प्रेमी' ने इस ग्रन्थ को अपने शोध-प्रबन्ध का विषय बनाया और गम्भीरता पूर्वक इसके विविध पक्षों का अध्ययन किया। इससे अधिक प्रसन्नता का विषय यह है कि उनका यह शोध-प्रबन्ध हमारे समक्ष पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी से प्रकाशित हुआ है। यह एक भिन्न प्रश्न हो सकता है कि हम डॉ. फूलचन्द 'प्रेमी' के निष्कर्षों से कितने और कितनी सीमा तक सहमत हैं,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परन्तु डॉ. फूलचन्द 'प्रेमी' की यह कृति तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जा सकती है।

जहाँ तक मूलाचार में प्रतिपादित विषयों के विवरणात्मक विवेचन का प्रश्न है, मैं कोई अधिक विस्तृत विवेचन प्रस्तुत नहीं करना चाहता, यद्यपि आचार के उन सभी नियमों के इतिहास की दृष्टि से पर्याप्त रूप से विवेचन किया जाना अपेक्षित है, किन्तु इसे भविष्य के विवेचन के लिए छोड़कर मैं केवल ग्रन्थ स्वरूप, ग्रन्थकार और उसकी परम्परा आदि पर ही संक्षेप में विचार प्रस्तुत करना चाहूँगा। यद्यपि इन प्रश्नों पर डॉ. फूलचन्द जैन ने भी विचार किया है किन्तु न तो उनके विचारों को और न ही मेरे विचारों को अंतिम कहा जा सकता है। मेरी अपेक्षा तो यही है कि इस प्रकार के चिन्तन अनुचिन्तन से इस ग्रन्थ के विविध पक्षों के अध्ययन की धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहे। विद्वानों से अपेक्षा है कि युक्तिपूर्वक समीक्षा के माध्यम से इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में और अधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न करें।

मूलाचार के कर्ता

सर्वप्रथम हम इस ग्रन्थ के कर्ता के सम्बन्ध में विचार करेंगे। मूलाचार के कर्ता के प्रश्न को लेकर मुख्य रूप से दो प्रकार की मान्यताएं प्रचलित हैं। कुछ लोग इसे आचार्य कुन्दकुन्द की कृति मानते हैं तो दूसरी ओर कुछ लोग इसे आचार्य वट्टकेर की कृति मानते हैं। जो लोग इसे आचार्य कुन्दकुन्द की कृति मानते हैं उनका एक मात्र आधार मूलाचार की कुछ प्रतियों में अंतिमप्रशस्ति में "कुन्कुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचारास्य" विवृत्ति कृतिरियम् वसुनन्दीन: श्रीश्रमणस्य" यह उल्लेख पाया जाना है। मूलाचार की वसुनन्दि के वृत्ति के अतिरिक्त मुनि चिन्तामणि की एक टीका भी मूलाचार पर मिलती है। इसकी पुष्पिका में भी "कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचिते मूलाचारे" ऐसा लिखा हुआ है। इन दो उल्लेखों के अतिरिक्त मूलाचार आचार्य कुन्दकुन्द की कृति है, ऐसा कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि मूलाचार की वसुनन्दि की वृत्ति के प्रारम्भ और अन्त में भी स्पष्ट रूप से इसके कर्ता श्री वट्टकेराचार्य का उल्लेख मिलता है। जब स्वयं वृत्तिकार ही इसे श्रीमदाचार्य वट्टकेर प्रणीत मूलाचार उल्लेख करता है तो फिर इस शंका के लिए कोई स्थान नहीं रहता कि यह वट्टकेर की कृति नहीं है और तब परवर्ती किसी लिपिकार के द्वारा ग्रन्थ के अन्त में कुन्कुन्द का नाम उल्लेख कर देने मात्र से इसे कुन्दकुन्द का ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। मुनि चिन्तामणी नायक की जो मूलाचार पर टीका उपलब्ध है, वह वसुनन्दि के बाद की है और उसकी प्रति भी प्राचीन नहीं है। अत: उसकी पुष्पिका में कुन्दकुन्द का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख मूलाचार के कर्ता के रूप में होना अधिक महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। यह मात्र दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द के प्रति जो श्रद्धातिरेक है उसका ही परिणाम कहा जा सकता है। हम एक बात और यहाँ स्पष्ट कर देना चाहेंगे कि यदि "बारस्स अणुवेक्खा" को छोड़कर कुन्दकुन्द के अन्य सभी ग्रन्थों की कुल २१ गाथाएं मूलाचार में समस्त रूप से पायी जाती हैं तो इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेना कि यह आचार्य कुन्दकुन्द की कृति है, किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। पुनः कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की जो गाथाएँ मूलाचार में मिलती हैं उनमें से अनेक श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी मिलती हैं। यदि इसी दृष्टि से विचार करें तो मूलाचार और भगवतीआराधना की ६५ गाथाएं समान हैं, किन्तु क्या इस समानता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूलाचार शिवार्य की रचना है। इससे भी और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि श्वेताम्बर परम्परा के प्रकीर्णकों और आवश्यक निर्युक्ति की ३०० से अधिक गाथाएं मूलाचार में उपलब्ध होती हैं तो क्या इस आधार पर यह मान लिया जाए कि यह श्वेताम्बर परम्परा के किसी आचार्य की कृति है। मात्र २१ गाथाओं की समानता को लेकर इसे कुन्दकुन्द की कृति बताना समुचित नहीं है।

दिगम्बर परम्परा के बहुश्रुत विद्वान पं. नाथूरामजी प्रेमी ने अनेक सबल तर्कों के आधार पर यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द का तो हो ही नहीं सकता, अपितु उनकी परम्परा का भी ग्रन्थ नहीं है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा तो हम ग्रन्थ की परम्परा पर विचार करते समय करेंगे और बतायेंगे कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द की परम्परा का नहीं माना जा सकता। यहाँ तो मात्र प्रेमीजी के शब्दों में इतना ही कहना चाहेंगे कि "इन सब बातों से मूलाचार कुन्दकुन्द की परम्परा का ग्रन्थ नहीं मालूम होता है। विद्वानों से निवेदन है कि वट्टकेर को कुन्दकुन्द बनाने का प्रयत्न न करके इस ग्रन्थ का जरा और गहराई से अध्ययन करके यथार्थ को समझने की चेष्टा करें। यह सुस्पष्ट है कि मूलाचार के कर्ता कुन्दकुन्द नहीं हैं"। मूलाचार के समीक्षात्मक अध्ययन के कर्ता स्वयं डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी' भी यह स्वीकार करते हैं कि "उपर्युक्त समानताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मूलाचार और आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित ग्रन्थों में कुछ समानताएं अवश्य हैं फिर भी मूलाचार और आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के गहन अध्येता विद्वान भी मूलाचार को आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित नहीं कह सकते।" इससे फलित तो यही होता है कि उनकी दृष्टि से भी मूलाचार के कर्ता कुन्दकुन्द उसी मूलसंघ के प्रधान आचार्य थे, जिस परम्परा में उनके पश्चात् आचार्य वट्टकेर हुए, जिन्होंने उसी परम्परा के पोषक श्रमणों के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिए आचार-व्यवहार का एक सच्चा एवं सुव्यवस्थित संविधान मूलाचार के रूप में लिपिबद्ध किया और मूलसंघ की अविच्छिन तथा उच्च परम्परा का साक्षात दर्शन कराने वाले उस ग्रन्थ का नाम मूलाचार रखा। डॉ. फूलचन्द 'प्रेमी' की दृष्टि से वट्टकेर और आचार्य कुन्दकुन्द दोनों ही एक ही परम्परा के पोषक हैं। अत: मूलाचार में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का प्रभाव उनकी दृष्टि में आश्चर्य का विषय नहीं है। वे यह भी स्पष्ट रूप से मानते हैं कि वट्टकेर कुन्दकुन्द के पश्चात्वर्ती थे। इस सम्बन्ध में मेरा उनसे मतभेद है। स्वयं मूलाचार में ही ऐसे अनेक तथ्य उपस्थित हैं, जिससे मूलाचार को कुन्दकुन्द की परम्परा का ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता। इसपर हम आगे चर्चा करेंगे। यहाँ हमारा प्रतिपाद्य मात्र यही है कि आचार्य वट्टकेर को ही मूलाचार का प्रणेता माना जा सकता है।

मूलाचार की हस्तलिखित प्रतियों में और उसकी वृत्ति में वट्टकेर और कुन्दकुन्द दोनों के ही उल्लेख मिलने से दिगम्बर परम्परा के कुछ विद्वानों ने यह अनुमान लगा लिया कि वट्टकेर और कुन्दकुन्द एक ही व्यक्ति होंगे। यहाँ तक कि उन्होंने वट्टकेर को कुन्दकुन्द का विशेषण सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया और 'वट्टक' का अर्थ प्रवर्तक और 'इरा' का अर्थ वाणी बता दिया। किन्तु वे अपनी इस व्याख्या के व्यामोह में यह बात भूल गये कि 'वट्टकेर' शब्द संस्कृत या प्राकृत का शब्द नहीं है। श्री आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये स्पष्ट रूप से इस प्रयत्न को अनुचित बताते हुए कहते हैं कि यह सब तर्क-कौशल और शब्द-कौशल मात्र है। 'वट्टकेर' शब्द संस्कृत से निष्पन्न है या नहीं, जब इसी में संदेह है तो उसकी संस्कृत व्युत्पत्ति देना केवल आग्रह है। उन्होंने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि 'वट्टकेर' शब्द कन्नड़ भाषा का शब्द है और यह स्थानसूचक शब्द है ''वट्ट'' शब्द का अर्थ पर्वत और 'केरी' शब्द का अर्थ रास्ता या गली होता है। अत: 'वट्टकेर' शब्द पर्वत के समीप तालाब से युक्त किसी स्थान या गांव का नाम हो सकता है अथवा वह किसी मोहल्ले का नाम हो सकता है। कारीकल के पद्मावती देवी के मंदिर के एक अभिलेख में ''वट्टकेरी'' गांव का दो बार उल्लेख आया है। यह अभिलेख शक संवत् १३९७ का है। इससे यह निश्चित हो जाता है कि वट्टकेरी नाम का कोई गांव १५वीं शताब्दी में अस्तित्ववान था, सम्भवत: मूलाचार के कर्ता इसी गांव के निवासी रहे होंगे। दक्षिण में व्यक्ति के नाम के प्रारम्भ में गांव के नाम का उल्लेख करने की परम्परा आज भी है। अत: पं. नाथूराम प्रेमी का यह अनुमान उचित ही है कि मूलाचार के कर्ता वट्टकेर अपने गांव के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। उनका मूल नाम क्या था अब विस्मृति के गर्भ में चला गया है। निष्कर्ष रूप में मैं नाथूराम प्रेमी और मूलाचार के समीक्षात्मक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययन के लेखक डॉ. फूलचन्द जैन से इस सम्बन्ध में पूर्णतया सहमत हूँ कि मूलाचार के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द और वट्टकेर एक ही व्यक्ति नहीं हैं और आचार्य वट्टकेर ही इस ग्रन्थ के प्रणेता हैं।

क्या मूलाचार संग्रह ग्रन्थ है ?

क्या मूलाचार संग्रह ग्रन्थ है? यद्यपि परम्परागत रूप से यह माना जाता है कि आचार्य वट्टकेर मूलाचार के रचयिता हैं, किन्तु वृत्तिकार वसुनन्दि को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी इस ग्रन्थ के कर्ता के रूप में वट्टकेर का उल्लेख नहीं मिलता। ग्रन्थ के आदि और अन्त में भी लेखक ने कहीं भी अपने नाम का संकेत नहीं दिया है। अत: कुछ विद्वानों की दृष्टि में यह विचार आया कि वस्तुत: मूलाचार का लेखक कोई नहीं है। इसे संग्रह ग्रन्थ मानने वालों की परम्परा में पं. परमानन्दजी, पं. नरोत्तम शास्त्री और श्वेताम्बर परम्परा के मुनि दर्शनविजयजी और पं. सुखलालजी का उल्लेख हुआ है। इनमें पं. परमानन्द जी अपनी पूर्व मान्यता का खण्डन करके इसे आचार्य वट्टकेर की मौलिक कृति मानते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपना एक विस्तृत लेख "अनेकान्त" वर्ष १२, किरण ११ में प्रकाशित किया है। यद्यपि पं. सुखलालजी और मुनि दर्शनविजयजी इसे संग्रह ग्रन्थ मानते हैं किन्तु संग्रह ग्रन्थ मानने का आधार यह है कि इसमें आगमों, निर्युक्तियों, प्रकीर्णकों से अधिकांश गाथाएं ली गई हैं। इसकी ३०० से अधिक गाथाएं उत्तराध्ययन, आवश्यकनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति, जीवसमास, महापच्चक्खाण, आउरपच्चखान और यापनीय परम्परा के ग्रन्थ भगवतीआराधना से यथावत रूप से मिलती हैं। इस प्रश्न पर हम अलग से चर्चा करेंगे कि ये गाथाएं मूलाचार के कर्ता ने इन ग्रन्थों से ली है अथवा मूलाचार से ये गाथाएं उन ग्रन्थों में गई हैं। वस्तुत: मूलाचार से इन गाथाओं का निर्युक्ति आदि में जाने का प्रश्न इसलिए नहीं उठता है कि मूलाचारकार स्वयं ही "आवसय निज्जुत्तिं वोच्छामि" कहकर ही इन गाथाओं का उल्लेख करता है। अत: यह मानना कि निर्युक्ति आदि के रचनाकारों ने मूलाचार से ये गाथाएं ली होंगी, कदापि सम्भव नहीं है। मात्र यही नहीं मूलाचार के पूरे के पूरे अध्याय इस बात के सूचक हैं कि वे किसी एक ग्रन्थ विशेष से संकलित हैं।

उदाहरण के रूप में "आतुर प्रत्याख्यान" की ७० गाथाओं में ६० गाथाएं मूलाचार के व्रतप्रत्याख्यान में समान या अल्पाधिक अन्तर से मिलती हैं। षडावश्यक में आवश्यकनिर्युक्ति की गाथाएं हैं। पंचाचार अधिकार में उत्तराध्ययन और भगवतीआराधना की गाथाएं अधिक हैं। पिण्डविशुद्धि अधिकार में पिण्डविशुद्धि नामक श्वेताम्बर ग्रन्थ की अनेक गाथाएं मिलती हैं। उत्तराध्ययन के समाचारी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अध्ययन से भी कुछ गाथाएं मिलती हैं। अत: इन आधारों पर यही मानना होगा कि ये गाथाएं मूलाचारकार ने अन्य ग्रन्थों से ही ली हैं। जब वह आवश्यकनिर्युक्ति को कहने की प्रतिज्ञा करके आवश्यकनिर्युक्ति की गाथाएं प्रस्तुत करता है, तो इससे फलित यही होता है कि वह न केवल उस ग्रन्थ से परिचित है, अपितु उसे ही प्रस्तुत भी कर रहा है। इसी प्रकार मूलाचार में "जदं चरे जदं चिट्ठे" के रूप में दशवैकालिक की गाथाएँ उपलब्ध होती हैं तो हम यह तो नहीं कह सकते कि दशवैकालिक में ये गाथाएँ मूलाचार से ली गई हैं, क्योंकि भाषा, भाव, रचयिता आदि की दृष्टि से विद्वानों को इस सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि दशवैकालिक मूलाचार से प्राचीन है। अत: इतना तो निश्चित है कि इस ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थों की गाथाओं का संग्रह किया गया है।

मूलाचार में अनेक गाथाएं ऐसी हैं जो दो-दो बार आई हैं। इससे भी यही फलित होता है कि मूलाचार एक संग्रह ग्रन्थ है। पुन: मूलाचार में अनेक गाथाओं में स्पष्ट अन्तर्विरोध है, इससे भी यह फलित होता है कि वह संग्रह ग्रन्थ है। किन्तु इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि ग्रन्थ कर्ता ने अपनी मौलिकता का कोई परिचय ही नहीं दिया है। स्पष्टत: मूलाचार एक उद्देश्यपूर्ण रचना है। उसमें मुनि आचार के प्रतिपादन के उद्देश्य को लेकर ही गाथाओं का संकलन किया गया है। मात्र इतना ही नहीं, मुझे यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है कि उसकी अनेक गाथाएं स्वयं कर्ता की रचना हो सकती हैं। वस्तुत: जिस प्रकार एक माली विभिन्न कुसुमों का संचय करके एक सुनियोजित उद्देश्य से किसी विशिष्ट माला का निर्माण करता है उसी प्रकार आचार्य वट्टकेर ने इस ग्रन्थ की रचना की।

अत: निर्णय रूप में यही कहा जा सकता है कि आचार्य वट्टकेर ने विभिन्न ग्रन्थों से सामग्री का संकलन करके एक सुनियोजित ढंग से अपनी परम्परा के मुनियों के आचार के लिए इस ग्रन्थ का निर्माण किया था।

जिन विद्वानों को इसे संग्रह ग्रन्थ मानने में आपत्ति होती है वे कभी-कभी ऐसा विचित्र तर्क देते हैं कि भद्रबाहु श्रुतकेवली तक दिगम्बर-श्वेताम्बर जैसे भेदों की सृष्टि नहीं हुई थी, उस समय तक भगवान महावीर का शासन यथाजातमुद्रा रूप में ही चल रहा था, उनके द्वारा रचित निर्युक्तियां उस समय साधु समाज में प्रचलित थीं, खासकर उनके शिष्यों-प्रशिष्यों में उनका पठन-पाठन बराबर चल रहा था। ऐसी स्थिति में मूलाचार में कुछ गाथाओं की समानता पर से आदान-प्रदान की कल्पना करना संगत नहीं जान पड़ता। आश्चर्य इस बात को लेकर होता है कि यदि दिगम्बर परम्परा में निर्युक्तियों का पठन-पाठन बराबर चल रहा था तो फिर वे अचानक लुप्त कैसे हो गईं और दिगम्बर परम्परा में प्रचलित तत्त्वार्थसूत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की व्याख्याओं में अथवा अन्य टीकाओं में उनके उद्धरण क्यों नहीं आये? पुन: जो भद्रबाहु दिगम्बर श्वेताम्बर के विभाजन के पूर्व हुए हैं, वे भद्रबाहु निर्युक्तियों के रचनाकार नहीं हैं, वे अन्य भद्रबाहु की रचनाएँ हैं, क्योंकि स्वयं निर्युक्तियों में ही उन्होंने भद्रबाहु की वन्दना की है। यह तो सम्भव नहीं था कि लेखक स्वंय ही अपने को प्रणाम करे। अत: यह निश्चित है कि न केवल मूलाचार में निर्युक्तियों और प्रकीर्णकों की गाथाएं सम्मिलित की गई हैं, अपितु उसकी रचना भी इनके बाद की ही है। यदि निर्युक्तियां दिगम्बर परम्परा में मान्य और प्रचलित थीं, तो ऐसा कौन सा कारण उपस्थित हो गया कि उस परम्परा ने उन निर्युक्तियों का त्याग कर दिया। यदि यह कहा जाए कि जिन ग्रन्थों पर ये निर्युक्तियां थीं उन ग्रन्थों के लुप्त हो जाने से ये निर्युक्तियां भी लुप्त हो गई हों तो यह युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि अनेक ग्रन्थ लुप्त हो गये और उनकी व्याख्याएँ आज भी उपलब्ध हैं, पुन: यदि यह माना जाए कि जिन ग्रन्थों पर निर्युक्तियां लिखी गईं उन्हें अस्वीकार कर देने के कारण उनकी निर्युक्तियों को भी अस्वीकार कर दिया, तो इसका फलित यह होगा कि वे निर्युक्तियां उनकी अपनी परम्परा की नहीं थीं।

मूलाचार और उसकी परम्परा

मूलाचार को वर्तमान दिगम्बर जैन परम्परा में आगम स्थानीय ग्रन्थ के रूप में मान्य किया जाता है। यह ग्रन्थ मुख्यत: अचेल परम्परा के साधु-साध्वियों के आचार से सम्बन्धित है। यह भी निर्विवाद सत्य है कि दिगम्बर परम्परा में इस ग्रन्थ का उतना ही महत्त्व है जितना कि श्वेताम्बर परम्परा में आचारांग का। यही कारण है कि धवला और जयधवला (दसवीं शताब्दी) में इसकी गाथाओं को आचारांग की गाथा कहकर उद्धृत किया गया है। यह स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा में जब आचारांग को लुप्त मान लिया गया है तो उसके स्थान पर मूलाचार को ही आचारांग के रूप में देखा जाने लगा। वस्तुत: आचारांग के प्राचीनतम अंश प्रथम श्रुतस्कंध में अचेलता का प्रतिपादन होते हुए भी मुनि के वस्त्र ग्रहण सम्बन्धी कुछ उल्लेख, फिर चाहे वे आपवादिक स्थिति के क्यों न हों, पाये ही जाते हैं। यही कारण था कि अचेलकत्व पर अत्यधिक बल देने वाली दिगम्बर परम्परा अपने सम्प्रदाय में इसे मान्य न कर सकी और उसके स्थान पर मूलाचार को ही अपनी परम्परा का मुनि आचार सम्बन्धी ग्रन्थ मान लिया। आर्यिका ज्ञानमती जी ने भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित मूलाचार की भूमिका में यह लिखा है कि आचारांग के आधार पर चौदह सौ गाथाओं में ग्रन्थकर्ता ने इस ग्रन्थ की रचना की; किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि यह ग्रन्थ आचारांग और विशेष रूप से उसके प्राचीनतम अंश प्रथम श्रुतस्कंध के आधार पर तो बिलकुल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही नहीं लिखा गया है। जिन ग्रन्थों के आधार पर मूलाचार की रचना हुई है वे श्वेताम्बर परम्परा के मान्य बृहत्प्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान, आवश्यकनिर्युक्ति, जीवसमास आदि हैं जिनकी सैकड़ों गाथाएँ शौरसेनी रूपान्तरण के साथ इसमें गृहीत हैं। वस्तुत: मूलाचार श्वेताम्बर परम्परा में मान्य निर्युक्तियों, प्रकीर्णकों की विषयवस्तु एवं सामग्री से निर्मित है।

दिगम्बर परम्परा इसे अपनी परम्परा का ग्रन्थ मानती है, किन्तु दिगम्बर परम्परा के बहुश्रुत विद्वान पं. नाथूरामजी प्रेमी ने निम्न आठ आधारों पर इसे कुन्दकुन्द की दिगम्बर जैन परम्परा से भिन्न परम्परा का ग्रन्थ स्थापित किया है–

१. मूलाचार और भगवतीआराधना की पचासों गाथाएं एक सी और समान अभिप्राय को प्रकट करने वाली हैं। अत: यह ग्रन्थ भगवतीआराधाना की परम्परा का है।

२. मूलाचार की "अचेलकुद्देसीय" आदि दस कल्पों की जो गाथाएं हैं, वे गाथाएं मूलाचार और भगवतीआराधना में समान रूप से पायी जाती हैं। श्वेताम्बर परम्परा के "जीतकल्पभाष्य", निर्युक्तियों और टीकाग्रन्थों में भी ये उपलब्ध हैं। "प्रमेयकमल मार्तण्ड" के स्त्रीमुक्तिविचार में प्रभाचन्द्र ने इनका उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा की गाथा के रूप में किया है।

३. मूलाचार की "सेज्जागासणीसेज्जा" (३९१) नामक गाथा भी मूल आराधना (३०७) से मिलती है। इसमें यह कहा गया है कि वैयावृत्ति करने वाला मुनि रुग्ण मुनि का आहार औषधि से उपकार करे (आहार लाकर देने की परम्परा दिगम्बर मुनिवर्ग में प्रचलित नहीं है, वह श्वेताम्बर या यापनीयों की ही परम्परा है)।

४. भगवतीआराधना की १४४ वीं गाथा के समान इसकी ३८७ वीं गाथा में आचारदशा, जीतकल्प आदि का उल्लेख है, जो यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ हैं और आज भी उपलब्ध हैं।

५. मूलाचार की गाथा २७७, २७८, २७९ में संयमी मुनि और आर्यिकाओं को चार प्रकार के सूत्र काल शुद्धि आदि के बिना नहीं पढ़ना चाहिये। इनसे अन्य आराधना, निर्युक्ति, मरण-विभक्ति, संग्रह, स्तुति, प्रत्याख्यान, आवश्यक और धर्मकथा आदि पढ़ना चाहिये। ये सब ग्रन्थ मूलाचार के कर्ता के समक्ष थे, परन्तु कुन्दकुन्द की परम्परा के साहित्य में इन ग्रन्थों के नाम उपलब्ध नहीं है, मात्र यही नहीं उस परम्परा में इन ग्रन्थों के पढ़ने की कोई परम्परा रही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो, ऐसा भी कहीं संकेत उपलब्ध नहीं होता (इस सम्बन्ध में मैंने अलग से विचार किया है जिसे आगे देखा जा सकता है)।

६. मूलाचार में २२ तीर्थंकर सामायिक संयम का उपदेश देते हैं किन्तु ऋषभ, महावीर छेदोपस्थापनीय का उपदेश देते हैं। इसी प्रकार प्रथम और अंतिम तीर्थंकर सप्रतिक्रमण धर्म का प्रतिपादन करते हैं जबकि मध्यम के २२ तीर्थंकर अपराध होने पर प्रतिक्रमण का विधान करते हैं। ये दोनों गाथाएं भद्रबाहु कृत आवश्यक निर्युक्ति में भी हैं और वह श्वेताम्बर ग्रन्थ है। दिगम्बर परम्परा में तीर्थंकरों की आचार परम्परा में भेद होता है, ऐसी मान्यता ही नहीं है, अत: यह ग्रन्थ उनकी परम्परा से भिन्न है।

७. आवश्यकनिर्युक्ति की ८० गाथाएं मूलाचार में भी हैं। मूलाचार में प्रत्येक आवश्यक का कथन करते समय यह कहा गया है कि प्रस्तुत आवश्यक पर समास से अर्थात् संक्षेप में निर्युक्ति कहूँगा, अवश्य ही अर्थ सूचक है, क्योंकि सम्पूर्ण मूलाचार में आवश्यक अधिकार को छोड़कर अन्य प्रकरणों में 'निर्युक्ति' शब्द शायद ही आया हो। षडावश्यक के अन्त में भी इस अध्याय को निर्युक्ति के नाम से ही निर्दिष्ट किया गया है।

वैसे तो प्रेमीजी ने मात्र भगवतीआराधना से इसकी गाथाओं की समरूपता की चर्चा की है, परन्तु बात यहीं समाप्त नहीं होती। मूलाचार में श्वेताम्बर परम्परा में मान्य अनेक ग्रन्थों की गाथायें समान रूप से उपलब्ध होती हैं। उनमें शौरसेनी और अर्धमागधी अथवा महाराष्ट्री के अन्तर के अतिरिक्त कहीं किसी प्रकार का अन्तर भी नहीं है। मूलाचार के बृहत्प्रत्याख्यान नामक द्वितीय अधिकार में अधिकांश गाथायें महापच्चक्खाण और आउरपच्चक्खाण से मिलती हैं। मूलाचार के बृहत् प्रत्याख्यान और संक्षिप्त प्रत्याख्यान इन दोनों अधिकारों में क्रमश: ७१ और १४ गाथायें अर्थात् कुल ८५ गाथाएँ हैं। इनमें से ७० गाथायें तो आतुरप्रत्याख्यान नामक श्वेताम्बर परम्परा के प्रकीर्णक से मिलती हैं। शेष १५ गाथाओं में भी कुछ महापच्चक्खाण एवं चन्द्रावेध्यक में मिल जाती हैं। ये ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा में प्रकीर्णकों के रूप में आज भी स्वीकार्य हैं। पुन: अध्याय का नामकरण भी उन्हीं ग्रन्थों के आधार पर है। इसी प्रकार मूलाचार के षडावश्यक अधिकार की १९२ गाथाओं में से ८० गाथायें आवश्यकनिर्युक्ति में समान रूप से उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त इसी अधिकार में पाठभेद के साथ उत्तराध्ययन, अनुयोगद्वार और दशवैकालिक से अनेक गाथायें मिलती हैं। पंचाचार-अधिकार में सबसे अधिक २२२ गाथायें हैं। इसकी ५० से अधिक गाथायें उत्तराध्ययन और जीवसमास नामक श्वेताम्बर ग्रन्थ में समान रूप से पायी जाती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। इसमें जो षड्जीव निकाय का विवेचन है उसकी अधिकांश गाथायें उत्तराध्ययन के ३६वें अध्याय, प्रज्ञापना, आवश्यकनिर्युक्ति और जीवसमास में हैं। इसी प्रकार पांच समिति, गुप्ति आदि का जो विवेचन उपलब्ध होता है वह भी उत्तराध्ययन और दशवैकालिक में किंचित् भेद के साथ उपलब्ध होता है। मूलाचार के पिण्डशुद्धि अधिकार की ८३ गाथाओं में से कुछ गाथायें श्वेताम्बर परम्परा की पिण्डनिर्युक्ति नामक ग्रन्थ में यथावत् उपलब्ध होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूलाचार की अधिकांश सामग्री श्वेताम्बर परम्परा के उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति, आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्खाण, आवश्यकनिर्युक्ति, चन्द्रावेध्यक आदि श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों से संकलित हैं। आश्चर्य तो यह लगता है कि हमारी दिगम्बर परम्परा के विद्वान मूलाचार में कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से मात्र २१ गाथायें समान रूप से उपलब्ध होने पर इसे कुन्दकुन्द की कृति सिद्ध करने का साहस करते हैं और जिस परम्परा के ग्रन्थों से इसकी आधी से अधिक गाथायें समान रूप से मिलती हैं उसके साथ इसकी निकटता को भी दृष्टि से ओझल कर देते हैं। मूलाचार की रचना उसी परम्परा में सम्भव हो सकती है जिस परम्परा में उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, महापच्चक्खाण, आउरपच्चक्खाण आदि ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा रही है। नवीन खोजों से यह स्पष्ट हो चुका है कि यापनीय परम्परा में इन ग्रन्थों का अध्ययन होता था।

मूलाचार की भाषा

यह स्पष्ट है कि मूलाचार की भाषा शौरसेनी प्राकृत है फिर भी कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की शौरसेनी प्राकृत और मूलाचार की शौरसेनी प्राकृत में थोड़ा अन्तर परिलक्षित होता है। उदाहरण के रूप मे मूलाचार के पंचाचार अधिकार की ५०वीं गाथा के तीन चरण लगभग समान हैं किन्तु चौथा भिन्न है। वे गाथाएं इस प्रकार हैं -

रागी बंधइ कम्मं मुच्चई जीवो विराग संपण्णो ।
एसो जिणोवएसो समासदो, बंधमोक्खवाणं ॥५०॥ (मूलाचार- पंचाचाराधिकार)
रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदिजीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवदेसो, तम्हा कम्मेसु, मा रज्ज ॥ १५० ॥ (समयसार)

यदि हम इन दोनों गाथाओं पर विचार करते हैं तो देखते हैं कि मूलाचार की शौरसेनी पर अर्धमागधी एवं महाराष्ट्री का स्पष्ट प्रभाव है। मूलाचार की गाथा में रागी, बंधई, मुच्चई, जिणोवएसो - ये चारो शब्द महाराष्ट्री प्राकृत के अनुसार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। जबकि समयसार में रत्तो, बंधदि, मुंचदि, जिणोवदेसो - ये चारो शब्द विशुद्ध रूप से शौरसेनी प्राकृत के रूप हैं। मूलाचार में मध्यवर्ती 'त' के स्थान पर 'द' न होकर 'य श्रुति' का पाया जाना यह सूचित करता है कि उसके लेखक पर महाराष्ट्री का प्रभाव है।

इसी प्रकार मूलाचार के मूल गुण अधिकार की १२वीं गाथा और 'नियमसार' की ६२वीं गाथा भी लगभग समान है। यद्यपि इनमें कुछ भिन्नता भी है, इस गाथा में जहाँ मूलाचार में 'सपरिहरिं' शब्द का प्रयोग है वहाँ नियमसार में 'सपरहिदं' का प्रयोग है। यहाँ भी मूलाचार में महाराष्ट्री का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। मूलाचार पंचाचाराधिकार की २८वीं एवं १३१वीं गाथा में जहाँ 'लिप्पइ' शब्द है, वहीं 'लिप्पदि' शब्द भी है। एक ही ग्रन्थ में यह भाषा के स्वरूप का भेद विचारणीय है। यद्यपि इसी प्रकार का भाषा-भेद कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी पाया जाता है। जहाँ कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में कुछ स्थलों पर महाराष्ट्री प्रभावित रूप मिला है, वहाँ मूलाचार में शुद्ध शौरसेनी रूप भी मिला है। उदाहरण के रूप में चरित्रपाहुड़ की ३४वीं गाथा में 'वीरओ' रूप है वहीं मूलाचार के पंचाचाराधिकार में 'वीरदि' रूप है। स्वयं मूलाचार में भी अर्धमागधी या महाराष्ट्री के साथ शौरसेनी के रूप भी मिलते हैं। उदाहरण के रूप में समाचाराधिकार की १६२वीं गाथा में 'आएसस्स' पाठ है, जिसका संस्कृत रूप 'आगतस्य' है वहीं १६३वीं गाथा में 'आगन्तुय' है। इसी प्रकार 'व्रतप्रत्याख्यान संस्तरस्तवाधिकार' की गाथा ५६ में 'भणदि' रूप है। वहीं उसी की गाथा ५९वीं गाथा में महाराष्ट्री का 'भणति' रूप है। इसी अधिकार की गाथा ७६ में 'पंडियमरण' रूप है, जबकि गाथा ७७ में 'पंडिदमरणं' रूप मिलता है। आश्चर्य यह भी है कि उसके पूर्व ७६वीं गाथा के प्रथम चरण में 'जाति' का 'जादि' रूप प्रयुक्त है। ५७वीं गाथा में 'लहइ' रूप आया है, जबकि ११८वीं गाथा में 'लहदि' रूप है। 'लहई' शुद्ध रूप से महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग है। गाथा १०१ के प्रथम, द्वितीय चरण में 'मरिदत्वं' पाठ है, आश्चर्य यह भी है कि इसी गाथा के अन्त में (१०१ वीं गाथा में) 'मरियव्वं' रूप भी है। गाथा १०३ में 'होइ' रूप का प्रयोग है, जबकि अन्यत्र अनेक गाथाओं में 'होदि' रूप है। गाथा ११७ में 'छिन्दइ' रूप मिलता है जबकि अन्यत्र 'छिन्ददि' रूप का भी प्रयोग हुआ है। केवल प्रारम्भिक तीन अध्ययनों से ही ये उदाहरण दिये हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में इस प्रकार के अनेक रूप जो महाराष्ट्री अर्धमागधी से प्रभावित हैं, देखे जा सकते हैं। इस आधार पर हमारा प्रतिपाद्य मात्र इतना ही है कि इस ग्रन्थ के निर्माण में श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों, प्रकीर्णकों, निर्युक्तियों आदि का पूरा उपयोग हुआ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राचीन जैनागमों में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा

चार्वाक या लोकायत दर्शन का भारतीय दार्शनिक चिन्तन में भौतिकवादी दर्शन के रूप में विशिष्ट स्थान है। भारतीय चिन्तन में भौतिकवादी जीवन-दृष्टि की उपस्थिति के साहित्यिक प्रमाण अति प्राचीन काल से ही उपलब्ध होने लगते हैं। भारत की प्रत्येक धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तनधारा ने उसकी समालोचना भी की है। जैन धर्म एवं दर्शन के ग्रन्थों में भी इस भौतिकवादी जीवन-दृष्टि का प्रतिपादन एवं उसकी समीक्षा अति प्राचीन काल से ही मिलने लगती है। जैन धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य में महावीर के युग से लेकर आज तक लगभग २५०० वर्ष की सुदीर्घ कालावधि में इस विचारधारा की प्रस्तुति एवं समालोचना होती रही है। इस समग्र विस्तृत चर्चा को प्रस्तुत निबन्ध में समेट पाना सम्भव नहीं है, अत: हम प्राचीन प्राकृत आगम साहित्य तक ही अपनी इस चर्चा को सीमिति रखेंगे। प्राचीन प्राकृत जैन आगम साहित्य में ऋषिभाषित एक ऐसा ग्रन्थ है, जो चार्वाक दर्शन को भौतिकवादी और स्वार्थपरक अनैतिक जीवन दृष्टि का समर्थक न मानकर उसे एक मूल्यपरक सदाचारी जीवन-दृष्टि का सम्पोषक और भारतीय श्रमण संस्कृति का अंग मानता है।

प्राचीनतम प्राकृत आगम साहित्य में मुख्यतया आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित को समाहित किया जा सकता है। ये सभी ग्रन्थ ई.पू. पाँचवीं शती से लेकर ई.पू. तीसरी के बीच निर्मित हुए हैं, ऐसा माना जाता है[१]। इसके अतिरिक्ति उपांग साहित्य के एक ग्रन्थ राजप्रश्नीय को भी हमने इस चर्चा में समाहित किया है। इसका कारण यह है कि राजप्रश्नीय का वह भाग जो चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण और समीक्षा करता है, एक तो चार्वाक दर्शन के पूर्वपक्ष की स्थापना एवं उसकी समीक्षा दोनों ही दृष्टि से अति समृद्ध है, दूसरे अति प्राचीन भी माना जाता है, क्योंकि ठीक यही चर्चा हमें बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में भगवान बुद्ध और राजा पयासी के मध्य होने का उल्लेख मिलता है। जैन परम्परा में इस चर्चा को पार्श्वापत्य परम्परा के भगवान महावीर के समकालीन आचार्य केशीकुमार श्रमण और राजा पयासी के मध्य तथा बौद्ध त्रिपिटक में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान बुद्ध और राजा पयासी के बीच सम्पन्न हुआ बताया गया हैं। यद्यपि कुछ जैन आचार्यों ने पयेसी का संस्कृत रूप प्रदेशी मान लिया है किन्तु देववाचक, सिद्धसेनगणि, मलयगिरि और मुनिचन्द्रसूरि[२] ने पयासी का संस्कृत रूप प्रसेनजित ही माना है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक प्रामाणिक लगता है। प्रसेनजित को श्वेताम्बिका (सेयंविया) नगरी का राजा बताया गया है जो इतिहाससिद्ध है। उनका सारथी चित्त केशीकुमार को श्रावस्ती से यहां केवल इसीलिये लेकर आया था कि राजा की भौतिकवादी जीवन दृष्टि को परिवर्तित किया जा सके। कथावस्तु की प्राचीनता, प्रामाणिकता तथा तार्किकता की दृष्टि से ही इसे भी प्रस्तुत विवेचन में समाहित किया गया है।

प्रस्तुत विवेचना में मुख्यरूप से चार्वाक दर्शन के तज्जीवतच्छरीरवाद एवं उसकी परलोक तथा पुण्य-पाप की अवधारणाओं की पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ समीक्षाएं भी प्रस्तुत की गई हैं। इनमें भी ऋषिभाषित (ई.पू. चौथी शती) में चार्वाकों की जीवन-दृष्टि का जो प्रस्तुतीकरण है, वह उपर्युक्त विवरण से कुछ विशिष्ट प्रकार का है। उसमें दण्डोक्कल, रज्जूक्कल, स्तेनोक्कल, देसोक्कल, सव्वोक्कल के नाम से इनके जिन पॉच प्रकारों का उल्लेख है,[३] वह भी अन्यत्र किसी भी भारतीय दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। इसी प्रकार सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध एवं राजप्रश्नीय में चार्वाक दर्शन की स्थापना और खण्डन, दोनों के लिए जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं वे भी महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। प्राकृत आगमिक-व्याख्या साहित्य में मुख्यत: विशेषावश्यकभाष्य (छठी शती) के गणधरवाद[४] में चार्वाक दर्शन की विभिन्न मान्यताओं की समीक्षा-महावीर और गौतम आदि ११ गणधरों के मध्य हुए वाद-विवाद के रूप में प्रस्तुत की गई है, वह भी दार्शनिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है। अन्य आगमिक संस्कृत टीकाओं (१०वीं-११वीं शती) में भी चार्वाक दर्शन की जैन दार्शनिकों द्वारा की गई समीक्षाओं में दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध है। चूर्णि, वृत्ति, टीका आदि के अतिरिक्त जैन दार्शनिक ग्रन्थों में भी भौतिकवादी जीवन दृष्टि की समीक्षाएं उपलब्ध हैं। किन्तु इन सबको तो किसी एक स्वतन्त्र ग्रन्थ में ही समेटा जा सकता है। अत: इस निबन्ध की सीमा मर्यादाओं का ध्यान रखते हुए हम अपनी विवेचना को पूर्व निर्देशित प्राचीन स्तर के प्राकृत आगमों तक ही सीमित रखेंगे।

आचारांग में लोकसंज्ञा के रूप में लोकायत दर्शन का निर्देश

जैन आगमों में आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध अतिप्राचीन माना जाता है। विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि इस ग्रन्थ में स्वयं महावीर के वचनों का संकलन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ है। इसका रचनाकाल चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई.पू. माना जाता है। आचारांग में स्पष्ट रूप से लोकायत दर्शन का उल्लेख तो नहीं है, किन्तु इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही लोकायत दर्शन की पुनर्जन्म का निषेध करने वाली अवधारणा की समीक्षा की गई है। सूत्र के प्रारम्भ में कहा गया है कि कुछ लोगों को यह ज्ञात नहीं होता कि मेरी आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्म करने वाली) है, मैं कहाँ से आया हूँ और यहाँ से अपना जीवन समाप्त करके कहाँ जन्म ग्रहण करूंगा? सूत्रकार कहता है कि व्यक्ति को यह जानना चाहिए कि मेरी आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्म ग्रहण करने वाली) है, जो इन दिशाओं और विदिशाओं में संचरण करती है और मैं भी ऐसा ही हूँ, वस्तुतः जो यह जानता है - वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी हैं।[५] इस प्रकार इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में चार्वाक दर्शन की मान्यताओं के विरुद्ध चार बातों की स्थापना की गई है - आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद। आत्मा की स्वतन्त्र और नित्य सत्ता को स्वीकार करना आत्मवाद है। संसार को यथार्थ मानकर आत्मा को लोक में जन्म-मरण करने वाला समझना लोकवाद है। शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फलों में विश्वास करना कर्मवाद है। आत्मा को शुभाशुभ कर्मों का कर्ता-भोक्ता एवं परिणामी (परिवर्तनशील) मानना क्रियावाद है। इसी प्रकार आचारांग में लोकसंज्ञा का परित्याग करके इन सिद्धान्तों में विश्वास करने का निर्देश दिया गया है। ज्ञातव्य है कि आचारांग में लोकायत या चार्वाक दर्शन का निर्देश लोक संज्ञा के रूप में हुआ हैं।[६] लोकसंज्ञा से ही लोकायत नामकरण हुआ होगा। यद्यपि इस ग्रन्थ में इन मान्यताओं की समालोचना तो की गई है किन्तु उसकी कोई तार्किक भूमिका प्रस्तुत नहीं की गई है।

सूत्रकृतांग में लोकायत दर्शन

आचारांग के पश्चात् सूत्रकृतांग का क्रम आता है। इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध को भी विद्वानों ने अतिप्राचीन (लगभग ई.पू. चौथी शती) माना है। सूत्रकृतांग के प्रथम अध्याय में हमें चार्वाक दर्शन के पंचमहाभूतवाद और तज्जीवतच्छरीवाद के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इसमें पंचमहाभूतवाद को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु और आकाश ऐसे पाँच महाभूत माने गये हैं। उन पाँच महाभूतों से ही प्राणी की उत्पत्ति होती है और देह का विनाश होने पर देही का भी विनाश हो जाता हैं।[७] साथ ही यह भी बताया गया है कि व्यक्ति चाहे मूर्ख हो या पण्डित प्रत्येक की अपनी आत्मा होती है जो मृत्यु के बाद नहीं रहती। प्राणी औपपातिक अर्थात् पुनर्जन्म ग्रहण करने वाले नहीं हैं। शरीर का नाश होने पर देही अर्थात् आत्मा का भी नाश हो जाता है। इस लोक से परे न तो कोई लोक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और न पुण्य और पाप ही है।[८] इस प्रकार सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध में चार्वाक दर्शन की मान्यताओं का उल्लेख तो मिलता है किन्तु यहाँ भी उनकी कोई स्पष्ट तार्किक समालोचना परिलक्षित नहीं होती। यद्यपि सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में चार्वाक दर्शन की समीक्षा प्रस्तुत की गई है, किन्तु विद्वानों ने उसे किंचित् परवर्ती माना है। अत: उसके पूर्व हम उत्तराध्ययन का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

उत्तराध्ययन में लोकायतदर्शन

उत्तराध्ययन में चार्वाक दर्शन को जन-श्रद्धा (जन-सद्धि) कहा गया है।[९] सम्भवत: लोकसंज्ञा और जनश्रद्धा ये लोकायत दर्शन के ही पूर्व नाम हैं। उत्तराध्ययन में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ये सांसारिक विषय ही हमारे प्रत्यक्ष के विषय हैं। परलोक को तो हमने देखा ही नहीं। वर्तमान के काम भोग हस्तगत हैं जबकि भविष्य में मिलने वाले (स्वर्ग-सुख) अनागत अर्थात् संदिग्ध हैं। कौन जानता है कि परलोक है भी या नहीं ? इसलिए मैं तो जनश्रद्धा के साथ होकर रहूँगा।[१०] इस प्रकार उत्तराध्ययन के पंचम अध्याय में चार्वाकों की पुनर्जन्म के निषेध की अवधारणा का उल्लेख एवं खण्डन किया गया है। इसी प्रकार उत्तराध्ययन के चौदहवें अध्याय में भी चार्वाकों के असत् से सत् की उत्पत्ति का एवं पंचमहाभूत से चेतना की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है, जो वस्तुत: असत् से सत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त है। यद्यपि उत्तराध्ययन में असत्कार्यवाद का जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है, वह असत्कार्यवाद के पक्ष में न जाकर सत्कार्यवाद के पक्ष में ही जाता है। उसमें कहा गया है कि जैसे - अरणि में अग्नि, दूध में घृत और तिल में तेल असत् होकर भी उत्पन्न होता है, उसी प्रकार शरीर में जीव भी असत् होकर ही उत्पन्न होता है और उस शरीर का नाश हो जाने पर वह भी नष्ट हो जाता हैं।[११]

सम्भवत: उत्तराध्ययन में चार्वाकों के असत्कार्यवाद की स्थापना के पक्ष में ये सत्कार्यवाद की सिद्धि करने वाले उदाहरण इसीलिये दिये गये होंगे, ताकि इनकी समालोचना सरलता पूर्वक की जा सके। उत्तराध्ययन में आत्मा को अमूर्त होने के कारण इन्द्रिय ग्राह्य नहीं माना गया है और अमूर्त होने से नित्य कहा गया है।[१२] उपरोक्त विवरण से चार्वाकों के सन्दर्भ में निम्न जानकारी मिलती है –

१. चार्वाक दर्शन को "लोकसंज्ञा" और "जनश्रद्धा" के नाम से अभिहित किया जाता था।

२. चार्वाक दर्शन आत्मा को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानता था अपितु पंचमहाभूतों से चेतना की उत्पत्ति बताता था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. कारणतावाद में वह असत्कार्यवाद अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करता था।

४. शरीर के नाश के साथ आत्मा के विनाश को स्वीकार करता था तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को अस्वीकार करता था। पुनर्जन्म की अस्वीकृति के साथ-साथ वह परलोक अर्थात् स्वर्ग-नरक की सत्ता को भी अस्वीकार करता था।

५. वह पुण्य पाप अर्थात् शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फलों को भी अस्वीकार करता था, अतः कर्म सिद्धान्त का विरोधी था।

६. उस युग में दार्शनिकों का एक वर्ग अक्रियावाद का समर्थक था। जैनों के अनुसार अक्रियावादी वे दार्शनिक थे, जो आत्मा को अकर्ता और कूटस्थनित्य मानते थे। आत्मवादी होकर भी शुभाशुभ कर्मों के शुभाशुभ फल (कर्मसिद्धान्त) के निषेधक होने से ये प्रच्छन्न चार्वाकी ही थे।

इस प्रकार आचारांग, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन में चार्वाक दर्शन के जो उल्लेख हमें उपलब्ध होते हैं, वे मात्र उसकी अवधारणाओं को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। उनमें इस दर्शन की मान्यताओं से साधक को विमुख करने के लिए इतना तो अवश्य कहा गया है कि यह विचारधारा समीचीन नहीं है, किन्तु इन ग्रन्थों में चार्वाक दर्शन की मान्यताओं का प्रस्तुतीकरण और निरसन दोनों ही न तो तार्किक है और न विस्तृत ही।

सूत्रकृतांग (द्वितीय श्रुतस्कन्ध) में चार्वाक दर्शन का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा[१३]

चार्वाकों अथवा तज्जीवतच्छरीरवादियों के पक्ष का तार्किक दृष्टि से प्रस्तुतीकरण और उसकी तार्किक समीक्षा का प्रयत्न जैन आगम साहित्य में सर्व प्रथम सूत्रकृतांग के द्वितीय पौण्डरिक नामक अध्ययन में और उनके पश्चात् राजप्रश्नीय सूत्र में उपलब्ध होता है। अब हम सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आधार पर तज्जीवतच्छरीरवादियों के पक्ष का प्रस्तुतीकरण करेंगे और उसकी समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

तज्जीवतच्छरीरवादी यह प्रतिपादित करते हैं कि "पादतल से ऊपर मस्तक के केशों के अग्र भाग से नीचे तक तथा समस्त त्वक्पर्यन्त जो शरीर है, वही जीव है। इस शरीर के जीवित रहने तक ही यह जीव जीवित रहता है और शरीर के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाता है। इसलिए शरीर के अस्तित्व पर्यन्त ही जीवन का अस्तित्व है। इस सिद्धान्त को युक्तियुक्त समझना चाहिए। क्योंकि जो लोग युक्तिपूर्वक यह प्रतिपादित करते हैं कि शरीर अन्य है और जीव अन्य है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे जीव और शरीर को पृथक्-पृथक् करके नहीं दिखा सकते। वे यह भी नहीं बता सकते कि आत्मा दीर्घ है या ह्रस्व है या वह परिमण्डलाकार अथवा गोल है। वह किस वर्ण और किस गन्ध से युक्त है अथवा वह भारी है, हल्का है, स्निग्ध है या रुक्ष है, अत: जो लोग जीव और शरीर को भिन्न नहीं मानते उनका ही मत युक्तिसंगत है।'' क्योंकि जीव और शरीर को निम्नोक्त पदार्थों की तरह पृथक्-पृथक् करके नहीं दिखाया जा सकता, यथा -

१. तलवार और म्यान की तरह
२. मुंज और इषिका की तरह
३. मांस और हड्डी की तरह
४. हथेली और आंवले की तरह
५. दही और मक्खन की तरह
६. तिल की खली और तेल की तरह
७. ईख और उसके छिलके की तरह
८. अरणि और आग की तरह

इस प्रकार जैनागमों में प्रस्तुत ग्रन्थ में ही सर्वप्रथम देहात्मवादियों के दृष्टिकोण को तार्किक रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। पुन: उनकी देहात्मवादी मान्यता के आधार पर उनकी नीति सम्बन्धी अवधारणाओं को निम्न शब्दों में प्रस्तुत किया गया है -

यदि शरीर मात्र ही जीव है तो परलोक नहीं है। इसी प्रकार क्रिया-अक्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, भला-बुरा, सिद्धि-असिद्धि, स्वर्ग-नरक आदि भी नहीं हैं। अत: प्राणियों के वध करने, भूमि को खोदनें, वनस्पतियों को काटने, अग्नि को जलाने, भोजन पकाने आदि क्रियाओं में भी कोई पाप नहीं है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में देहात्मवाद की युक्तियुक्त समीक्षा न करके मात्र यह कहा गया है कि ऐसे लोग हमारा ही धर्म सत्य है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं और श्रमण होकर भी सांसारिक भोग विलासों में फंस जाते हैं।

इसी अध्याय में पुन: पंचमहाभूतवादियों तथा पंचमहाभूत और आत्मा मानने वाले सांख्यों का भी उल्लेख हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ की सूचना के अनुसार पंचमहाभूतवादी स्पष्ट रूप से यह मानते थे कि इस जगत् में पंचमहाभूत ही सब कुछ है जिनसे हमारी क्रिया-अक्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, अच्छा-बुरा, सिद्धि-असिद्धि, नरक-गति या नरक के अतिरिक्त अन्यगति; यहां तक कि तिनके के हिलने जैसी क्रिया भी होती है, क्योंकि आत्मा तो अकर्ता है।

उस भूत समवाय (समूह) को पृथक्-पृथक् नाम से जानना चाहिए जैसे कि- पृथ्वी एक महाभूत है, जल दूसरा महाभूत है, तेज तीसरा महाभूत है, वायु चौथा महाभूत है और आकाश पाँचवा महाभूत है। ये पाँच महाभूत किसी कर्ता के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वारा निर्मित नहीं हैं, न ही ये किसी कर्ता द्वारा बनाये हुए हैं, ये किये हुये भी नहीं हैं, न ही ये कृत्रिम हैं और न ये अपनी उत्पत्ति के लिए किसी की अपेक्षा रखते हैं। ये पाँचो महाभूत आदि एवं अन्त रहित हैं तथा अवध्य और आवश्यक कार्य करने वाले हैं। इन्हें कार्य में प्रवृत्त करने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, ये स्वतन्त्र एवं शाश्वत नित्य हैं। यह ज्ञातव्य है कि जैनागमों में ऐसा कोई भी सन्दर्भ उपलब्ध नहीं होता जिसमें मात्र चार महाभूत (आकाश को छोड़कर) मानने वाले चार्वाकों का उल्लेख हुआ हो।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पंचमहाभूतवादियों के उपरोक्त विचारों के साथ-साथ पंचमहाभूत और छठा आत्मा ऐसे छ: तत्त्वों को मानने वाले विचारकों का भी उल्लेख हुआ है। इनकी मान्यता को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि सत् का विनाश नहीं होता और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। इतना ही जीवकाय है, इतना ही अस्तिकाय है और इतना ही समग्र लोक है। पंचमहाभूत ही लोक का कारण है। संसार में तृण-कम्पन से लेकर जो कुछ होता है वह सब इन पाँच महाभूतों से ही होता है। आत्मा के असत् अथवा अकर्ता होने से हिंसा आदि कार्यों में पुरुष दोष का भागी नहीं होता, क्योंकि सभी कार्य भूतों के हैं सम्भवत: यह विचारधारा सांख्य दर्शन का पूर्ववर्ती रूप है। इसमें पंचमहाभूतवादियों की दृष्टि से आत्मा को असत् माना गया है तथा पंचमहाभूत एवं षष्ठ आत्मा को मानने वालों की दृष्टि से आत्मा को अकर्ता कहा गया है। सूत्रकृतांग इनके अतिरिक्त ईश्वर कारणवादी और नियतिवादी जीवन दृष्टियों को भी कर्म सिद्धान्त का विरोधी होने के कारण मिथ्यात्व का प्रतिपादक ही मानता है। इस प्रकार ऋषिभाषित के देशोत्कल और सूत्रकृतांग के पंचमहाभूत एवं षष्ठ आत्मवादियों के उपरोक्त विवरण में पर्याप्त रूप से निकटता देखी जा सकती है। जैनों की मान्यता यह थी कि वे सभी विचारक मिथ्यादृष्टि हैं, जिनकी दार्शनिक मान्यताओं में धर्माधर्म व्यवस्था या कर्म सिद्धान्त की अवधारणा स्पष्ट नहीं होती है। हम यहाँ यह देखते हैं कि यद्यपि सूत्रकृतांग में शरीर-आत्मवाद की स्थापना करते हुए देह और आत्मा भिन्न-भिन्न हैं, इस मान्यता का तार्किक रूप से निरसन किया गया है, किन्तु यह मान्यता क्यों समुचित नहीं है? इस सम्बन्ध में स्पष्टतया कोई भी तर्क नहीं दिये गये। सूत्रकृतांग देहात्मवाद के समर्थन में तो तर्क देता है किन्तु उसके निरसन में कोई तर्क नहीं देता। यहाँ हमने आचारांग, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन की अपेक्षा से चार्वाक दर्शन की चर्चा की है, ऋषिभाषित और राजप्रश्नीय की अपेक्षा से चार्वाक दर्शन की समीक्षा अग्रिम लेखों में करेंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ :

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग-१, भूमिका पृ. ३९

२. राजप्रश्नीयसूत्र (मधुकर मुनि), भूमिका पृ. १८

३. ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) अध्याय २०

४. विशेषावश्यकभाष्य गाथा १५४९ - २०२४

५. आचारांग (सम्पा० मधुकर मुनि) १/१/१/१-३
"एवमेगेसिं णो णातं भवति-अत्थि मे आया उववाइए...
... से आयावादी लोगावादी कम्मावादी किरियावादी।"

६. 'परिण्णाय लोग सण्णं सव्वसो 'आचारांग १/२/६/१०४.

७. सूत्रकृतांग (मधुकर मुनि) १/१/१/७-८

८. वही ११-१२

९. जणेणसद्धिं होक्खामि, उत्तराध्ययनसूत्र ५/७

१०. वहीं ५/५-७

११. जहा य अग्गी अरणी उ सन्तो खीरे घटां तेल्ल महातिलेसु ।
एमेव जाया ! सरीरंसि सत्ता संमुच्छई नासइ नावचिट्ठे ।
. . . . . उत्तराध्ययनसूत्र, १४/१८

१२. नो इन्दियग्गेज्झं अमुत्तभावा अमुत्तभावा वि य होई निच्चो। .... वही, १४/१९

१३. सूत्रकृतांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध अध्याय १, सूत्र ६४८-६५६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषिभाषित में प्रस्तुत चार्वाक दर्शन

प्राचीन जैन आगमों में चार्वाकदर्शन की तार्किक प्रतिस्थापना और तार्किक समीक्षा हमें सर्वप्रथम ऋषिभाषित (ई.पू. चौथी शती) में ही मिलती है उसके पश्चात् सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध (ई.पू. प्रथम शती) में तथा राजप्रश्नीय (ई.पू. प्रथम शती) में मिलती है। ऋषिभाषित का बीसवॉ "उक्कल" नामक सम्पूर्ण अध्ययन ही चार्वाक दर्शन की मान्यताओं के तार्किक प्रस्तुतीकरण से युक्त है। चार्वाकदर्शन के तज्जीवतच्छरीरवाद का प्रस्तुतीकरण इस ग्रन्थ में निम्न प्रकार से हुआ है -

"पादतल से ऊपर और मस्तक के केशाग्र से नीचे तक के सम्पूर्ण शरीर की त्वचापर्यन्त जीव आत्मपर्याय को प्राप्त हो जीवन जीता है और इतना ही मात्र जीवन है। जिस प्रकार बीज के भुन जाने पर उससे पुनः अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार शरीर के दग्ध हो जाने पर उससे पुनः शरीर (जीवन) की उत्पत्ति नहीं होती। इसीलिए जीवन इतना ही है (अर्थात् शरीर की उत्पत्ति से विनाश तक की कालावधि पर्यन्त ही जीवन है) न तो परलोक है, न सुकृत और दुष्कृत कर्मों का फल विपाक है। जीव का पुनर्जन्म भी नहीं होता। पुण्य और पाप जीव का संस्पर्श नहीं करते और इस तरह कल्याण और पाप निष्फल है।" ऋषिभाषित में चार्वाकों की इस मान्यता की समीक्षा करते हुए पुनः कहा गया है कि "पादतल से ऊपर तथा मस्तक के केशाग्र से नीचे तक के शरीर की सम्पूर्ण त्वचापर्यन्त आत्मपर्याय को प्राप्त ही जीव है, यह मरणशील है, किन्तु जीवन इतना ही नहीं है। जिस प्रकार बीज के जल जाने पर उससे पुनः उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार शरीर के दग्ध हो जाने पर उससे पुनः उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए पुण्य-पाप का अग्रहण होने से सुख-दुःख की सम्भावना का अभाव हो जाता है और पाप कर्म के अभाव में शरीर के दहन से या शरीर के दग्ध होने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता।" इस प्रकार व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर लेता है। यहाँ हम देखते हैं, कि ग्रन्थकार चार्वाकों के अपने ही तर्क का उपयोग करके यह सिद्ध कर देता है कि पुण्य-पाप से ऊपर उठकर व्यक्ति पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति पा लेता है।

इस ग्रन्थ में चार्वाक दर्शन के सन्दर्भ में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें कर्म सिद्धान्त का उत्थापन करने वालो चार्वाकों के पॉच प्रकारों का उल्लेख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ है और ये प्रकार अन्य दार्शनिक ग्रन्थों में मिलने वाले देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मन:आत्मवाद आदि प्रकारों से भिन्न हैं और सम्भवत: अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होते। इसमें निम्न पॉच प्रकार के उक्कलों के उल्लेख हैं - दण्डोक्कल, रज्जूक्कल, स्तेनोक्कल, देशोक्कल और सव्वुक्कल। इस प्रसंग में सबसे पहले तो यही विचारणीय है कि 'उक्कल' शब्द का वास्तविक अर्थ क्या हैं? प्राकृत के 'उक्कल' शब्द को संस्कृत में निम्न चार शब्दों से निष्पन्न माना जा सकता है- उत्कट, उत्कल, उत्कुल और उत्कूल। संस्कृत कोशों में 'उत्कट' शब्द का अर्थ उन्मत्त दिया गया हैं। चूँकि चार्वाक दर्शन अध्यात्मवादियों की दृष्टि में उन्मत्तों का प्रलाप था अत: उसे उत्कट (उन्मत्त) कहा गया हैं। मेरी दृष्टि में उक्कल का संस्कृत रूप उत्कट मानना उचित नहीं है। उसके स्थान पर उत्कल, उत्कुल या उत्कूल मानना अधिक समीचीन है। उत्कल का अर्थ है जो निकाला गया हो, इसी प्रकार 'उत्कुल' शब्द का तात्पर्य है जो कुल से निकाला गया है या जो कुल से बहिष्कृत है। चार्वाक आध्यात्मिक परम्पराओं से बहिष्कृत माने जाते थे, इसी दृष्टि से उन्हें उत्कल या उत्कुल कहा गया होगा।

यदि हम इसे उत्कूल से निष्पन्न मानें तो इसका अर्थ होगा किनारे से अलग हटा हुआ। ''कूल'' शब्द किनारे अर्थ में प्रयुक्त होता है, अर्थात् जो किनारे से अलग होकर अर्थात् मर्यादाओं को तोड़कर अपना प्रतिपादन करता है वह उक्कूल है। चूँकि चार्वाक मर्यादाओं को अस्वीकार करते थे अत: उन्हें उत्कूल कहा गया होगा। अब हम इन उक्कलों के पॉच प्रकारों की चर्चा करेंगे -

दण्डोक्कल

ये विचारक दण्ड के दृष्टान्त द्वारा यह प्रतिपादित करते थे कि जिस प्रकार दण्ड अपने आदि, मध्य और अन्तिम भाग से पृथक् होकर दण्ड संज्ञा को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार शरीर से भिन्न होकर जीव, जीव नहीं होता है। अत: शरीर के नाश हो जाने पर भव अर्थात् जन्म-परम्परा का भी नाश हो जाता है। उनके अनुसार सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर जीव जीवन को प्राप्त होता है। वस्तुत: शरीर और जीवन की अपृथकता या सामुदायिकता ही इन विचारकों की मूलभूत दार्शनिक मान्यता थी। दण्डोक्कल देहात्मवादी थे।

रज्जूक्कल

रज्जूक्कलवादी यह मानते हैं कि जिस प्रकार रज्जु तन्तुओं का स्कन्ध मात्र है उसी प्रकार जीवन भी पंचमहाभूतों का स्कन्ध मात्र है। उन स्कन्धों के विच्छिन्न होने पर भव-सन्तति का भी विच्छेद हो जाता है। वस्तुत: ये विचारक पंचमहाभूतों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के समूह को ही जगत् का मूल तत्त्व मानते थे और जीव को स्वतंत्र तत्त्व के रूप में स्वीकार नहीं करते थे। रज्जूक्कल स्कन्धवादी थे।

स्तेनोक्कल

ऋषिभाषित के अनुसार स्तेनोक्कल भौतिकवादी अन्य शास्त्रों के दृष्टान्तों को लेकर उनकी स्वपक्ष में उद्भावना करके यह मानते थे कि हमारा भी यही कथन है। इस प्रकार ये दूसरों के सिद्धान्तों का उच्छेद करते हैं। परपक्ष के दृष्टान्तों का स्वपक्ष में प्रयोग का तात्पर्य सम्भवत: वाद-विवाद में 'छल' का प्रयोग हो। सम्भवत: स्तेनोक्कल या तो नैयायिकों का कोई पूर्व रूप रहा हो या संजयवेलट्ठीपुत्र के सिद्धान्त का यह प्राचीन कोई विधायक रूप था, जो सम्भवत: आगे चलकर अनेकान्तवाद का आधार बना हो। ज्ञातव्य है कि ऋषिभाषित में देहात्मवादियों के तर्कों से मुक्ति की प्रक्रिया का प्रतिपादन किया है।

देशोक्कल

ऋषिभाषित में जो आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करके भी जीव को अकर्ता मानते थे, उन्हें देशोक्कल कहा गया है। आत्मा को अकर्ता मानने पर पुण्य-पाप, बन्धन-मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन पाती। इसलिए इस प्रकार के विचारकों को भी आंशिक रूप से उच्छेदवादी ही कहा गया है, क्योंकि पुण्य-पाप, बन्धन-मोक्ष आदि का निरसन करने के कारण ये भी कर्मसिद्धान्त, नैतिकता एवं धर्म के अपलापक ही थे। अत: इन्हें भी इसी वर्ग में समाहित किया गया था।

सम्भवत: ऋषिभाषित ही एक ऐसा ग्रन्थ है जो आत्म-अकर्तावादियों को उच्छेदवादी कहता है। वस्तुत: ये सांख्य और औपनिषदिक वेदान्त के ही पूर्व रूप थे। जैन उन्हें उत्कूल या उच्छेदवादी इसलिए मानते थे कि इन मान्यताओं से लोकवाद (लोक की यथार्थता) कर्मवाद (कर्म सिद्धान्त) और आत्मकर्तावाद (क्रियावाद) का खण्डन होता था।

सव्वुक्कल

सर्वोत्कूल सर्वदा अभाव से ही सबकी उत्पत्ति बताते थे। ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं है जो सर्वथा सर्व प्रकार से सर्वकाल में रहता हो, इस प्रकार ये सर्वोच्छेदवाद की संस्थापना करते थे। दूसरे शब्दों में जो लोग समस्त सृष्टि के पीछे किसी नित्य तत्त्व को स्वीकार नहीं करते थे और अभाव से ही सृष्टि की उत्पत्ति मानते थे, वे कहते थे कि कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो सर्वथा और सर्वकालों में अस्तित्व रखता हो। संसार के मूल में किसी भी सत्ता को अस्वीकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने के कारण ये सर्वोच्छेदवादी कहलाते थे। सम्भवत: यह बौद्ध ग्रन्थों में सूचित उच्छेदवादी दृष्टि का कोई प्राचीनतम रूप था जो तार्किकता से युक्त होकर बौद्धों के शून्यवाद के रूप में विकसित हुआ होगा।

इस प्रकार ऋषिभाषित में आत्मा, पुनर्जन्म, धर्म-व्यवस्था एवं कर्म सिद्धान्त के अपलापक विचारकों का जो चित्रण उपलब्ध होता है उसे संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है-

१. ग्रन्थकार उपरोक्त विचारकों को "उक्कल" नाम से अभिहित करता है जिसके संस्कृत रूप उत्कल, उत्कुल अथवा उत्कूल होते हैं। जिनके अर्थ होते हैं बहिष्कृत या मर्यादा का उल्लंघन करने वाला। इन विचारकों के सम्बन्ध में इस नाम का अन्यत्र कहीं प्रयोग हुआ है, ऐसा हमें ज्ञात नहीं होता।

२. इसमें इन विचारकों के पांच वर्ग बताये गये हैं - दण्डोत्कल, रज्जूत्कल, स्तेनोत्कल, देशोत्कल और सर्वोत्कल । विशेषता यह है कि इसमें स्कन्धवादियों (बौद्ध स्कन्धवाद का पूर्व रूप) सर्वोच्छेदवादियों (बौद्ध शून्यवाद का पूर्व रूप) और आत्म-अकर्तावादियों (अक्रियावादियों-सांख्य और वेदान्त का पूर्व रूप) को भी इसी वर्ग में सम्मिलित किया गया है। क्योंकि ये सभी तार्किक रूप से कर्म सिद्धान्त एवं धर्म व्यवस्था के अपलापक सिद्ध होते हैं। यद्यपि आत्म-अकर्तावादियों को देशोत्कल कहा गया है अर्थात् आंशिक रूप से अपलापक कहा गया है।

३. इसमें शरीर पर्यन्त आत्म-पर्याय मानने का जो सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है, वही जैनों द्वारा आत्मा को देहपरिमाण मानने के सिद्धान्त का पूर्व रूप प्रतीत होता है। क्योंकि इस ग्रन्थ में शरीरात्मवाद का निराकरण करते समय इस कथन को स्वपक्ष में भी प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इसमें जैन, बौद्ध और सांख्य तथा औपनिषदिक वेदान्त की दार्शनिक मान्यताओं के पूर्व रूप या बीज परिलक्षित होते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि इन मान्यताओं के सुसंगत बनाने के प्रयास में ही इन दर्शनों का उदय हुआ है।

४. इसमें जो देहात्मवाद का निराकरण किया गया है वह ठोस तार्किक आधारों पर स्थित नहीं है। मात्र यह कह दिया गया है कि जीव का जीवन शरीर की उत्पत्ति और विनाश की काल सीमा तक सीमित नहीं है। इससे यह फलित होता है कि कुछ विचारक जीवन को देहाश्रित मानकर भी देहान्तर की सम्भावना अर्थात् पुनर्जन्म की सम्भावना को स्वीकार करते थे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऋषिभाषित में उत्कटवादियों (चार्वाकों) से सम्बन्धित अध्ययन के अन्त में कहा गया है-

एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दन्ते दविए अलं ताइ णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्तिबेमि।

इस प्रकार वह सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, करुणा से द्रवित एवं पूर्ण त्यागी बनता है और पुनः इस संसार में नहीं आता है, आदि कहा गया है। अतः देहात्मवादी होकर लोकायत दार्शनिक भौतिकवादी या भोगवादी नहीं थे वे भारतीय ऋषि परम्परा के ही अंग थे, जो निवृत्तिमार्गी, नैतिक दर्शन के समर्थक थे। वे अनैतिक जीवन के समर्थक नहीं थे - उन्हें विरत या दान्त कहना उनको त्यागमार्ग एवं नैतिक जीवन का सम्पोषक ही सिद्ध करना है।

वस्तुतः लोकायत दर्शन को जो भोगवादी जीवन का समर्थक कहा जाता है, वह उनकी तत्त्वमीमांसा के आधार पर विरोधियों द्वारा प्रस्तुत निष्कर्ष है। यदि सांख्य का आत्म-अकर्तावाद, वेदान्त का ब्रह्मवाद, बौद्धदर्शन का शून्यवाद और विज्ञानवाद तप, त्याग और सम्पोषक माने जा सकते हैं तो देहात्मवादी लोकायत दर्शन को उसी मार्ग का सम्पोषक मानने में कौन सी बाधा है। चार्वाक या लोकायत दर्शन देहात्मवादी या तज्जीवतच्छरीरवादी होकर नैतिक मूल्यों और सदाचार का सम्पोषक रहा है। वह इस सीमित जीवन को सन्मार्ग में बिताने का संदेश देता है, उसका विरोध कर्मकाण्ड से रहा है न कि सात्विक नैतिक जीवन से। यह बात ऋषिभाषित के उपरोक्त विवरण से सिद्ध हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजप्रश्नीय सूत्र में चार्वाक मत का प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा

जैन आगमों में चार्वाक दर्शन के देहात्मवादी दृष्टिकोण के समर्थन में और उसके खण्डन के लिए तर्क प्रस्तुत करने वाला सर्वप्रथम राजप्रश्नीयसूत्र है। यही एक मात्र ऐसा प्राकृत आगम ग्रन्थ है जो चार्वाक दर्शन के उच्छेदवाद और तज्जीवतच्छरीरवाद के पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों के सन्दर्भ में अपने तर्क प्रस्तुत करता है। राजप्रश्नीय में चार्वाकों की इन मान्यताओं के पूर्व पक्ष को और उनका खण्डन करने वाले उत्तर पक्ष को निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है -

राजा पयेसी कहता है, हे केशीकुमार श्रमण ! मेरे दादा अत्यन्त अधार्मिक थे। आपके कथनानुसार वे अवश्य ही नरक में उत्पन्न हुए होंगे। मैं अपने पितामह को अत्यन्त प्रिय था, अत: मेरे पितामह को आकर मुझसे यह कहना चाहिए कि हे पौत्र ! मैं तुम्हारा पितामह था और इसी सेयंविया (श्वेताम्बिका) नगरी में अधार्मिक कृत्य करता था यावत् प्रजाजनों से राज-कर लेकर भी यथोचित रूप में उनका पालन-रक्षण नहीं करता था। इस कारण अतीव कलुषित पापकर्मों का संचय करके मैं नरक में उत्पन्न हुआ हूँ। किन्तु हे पौत्र ! तुम अधार्मिक मत होना, प्रजाजनों से कर लेकर उनके पालन-रक्षण में प्रमाद मत करना और न बहुत से मलिन पाप कर्मों का उपार्जन-संचय ही करना।

देहात्मवादियों के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न समाधान प्रस्तुत किया - हे राजन ! जिस प्रकार तुम अपने अपराधी को इसलिए नहीं छोड़ देते कि वह जाकर अपने पुत्र-मित्र और ज्ञातिजनों को यह बताये कि मैं अपने पाप के कारण दण्ड भोग रहा हूँ, तुम ऐसा मत करना, उसी प्रकार नरक में उत्पन्न तुम्हारे पितामह तुम्हें प्रतिबोध देने के लिए आना चाहकर भी यहाँ आने में समर्थ नहीं हैं। नारकीय जीव निम्न चार कारणों से मनुष्य लोक में नहीं आ सकते। सर्वप्रथम तो उनमें नरक से निकल कर मनुष्य लोक में आने की सामर्थ्य ही नहीं होती। दूसरे नरकपाल उन्हें नरक से बाहर निकलने की अनुमति भी नहीं देते। तीसरे नरक सम्बन्धी असातावेदनीय कर्म के क्षय न होने से वे वहां से नहीं निकल पाते। चौथे उनका नरक सम्बन्धी आयुष्य कर्म जब तक क्षीण नहीं होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तब तक वे वहां से नहीं आ सकते। अत: तुम्हारे पितामह के द्वारा तुम्हें आकर प्रतिबोध न दे पाने के कारण यह मान्यता मत रखो कि जीव और शरीर एक ही हैं, अपितु यह मान्यता रखो की जीव अन्य है और शरीर अन्य है। स्मरण रहे कि दीघनिकाय में भी नरक से मनुष्य लोक में न आ पाने के इन्हीं चार कारणों का उल्लेख किया गया है। केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने दूसरा तर्क प्रस्तुत किया ।

हे श्रमण ! मेरी दादी अत्यन्त धार्मिक थीं। आप लोगों के मतानुसार वह निश्चित ही स्वर्ग में उत्पन्न हुई होंगी। मैं अपनी दादी का अत्यन्त प्रिय था अत: उसे मुझे आकर यह बताना चाहिए कि, हे पौत्र ! अपने पुण्य कर्मों के कारण मैं स्वर्ग में उत्पन्न हुई हूँ। तुम भी मेरे समान धार्मिक जीवन बिताओ, जिससे तुम भी विपुल पुण्य का उपार्जन कर स्वर्ग में उत्पन्न हो। क्योंकि मेरी दादी ने स्वर्ग से आकर मुझे ऐसा प्रतिबोध नहीं दिया अत: मैं यही मानता हूँ कि जीवन और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं है।

राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया - हे राजन ! यदि तुम स्नान, बलि कर्म और कौतुकमंगल करके देवकुल में प्रविष्ट हो रहे हो, उस समय कोई पुरुष शौचालय में खड़ा होकर यह कहे कि, हे स्वामिन् ! यहाँ आओ ! कुछ समय के लिए यहाँ बैठो, खड़े होओ। तो क्या तुम उस पुरुष की बात को स्वीकार करोगे? निश्चय ही तुम उस अपवित्र स्थान पर जाना नहीं चाहोगे। इसी प्रकार हे राजन ! देवलोक में उत्पन्न देव वहाँ के दिव्य काम भोगों में इतने मूर्च्छित, गृद्ध और तल्लीन हो जाते हैं कि वे मनुष्य लोक में आने की इच्छा नहीं करते। दूसरे देवलोक सम्बन्धी दिव्य भोगों में तल्लीन हो जाने के कारण उनका मनुष्य सम्बन्धी प्रेम व्युच्छिन्न हो जाता है अत: वे मनुष्य लोक में नहीं आ पाते । तीसरे देवलोक में उत्पन्न वे देव वहां के दिव्य काम भोगों में मूर्च्छित या तल्लीन होने के कारण अभी जाता हूँ - अभी जाता हूँ, ऐसा सोचते रहते हैं किन्तु उतने समय में अल्पायुष्य वाले मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाते हैं। (क्योंकि देवों का एक दिन-रात मनुष्य लोक के सौ वर्ष के बराबर होता है, अत: एक दिन का भी विलम्ब होने पर यहाँ मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाता है)। पुन: मनुष्य लोक इतना दुर्गन्धित और अनिष्टकर है कि उसकी दुर्गन्ध के कारण देव मनुष्य लोक में आना नहीं चाहते। अत: तुम्हारी दादी के स्वर्ग से नहीं आने पर यह श्रद्धा रखना उचित नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया। राजा ने कहा कि मैंने एक चोर को जीवित ही एक लोहे की कुम्भी में बन्द करवा कर अच्छी तरह से लोहे से उसका मुख ढक दिया फिर उस पर गरम लोहे और रांगे से लेप करा दिया तथा उसकी देख-रेख के लिए अपने विश्वास पात्र पुरुषों को रख दिया। कुछ दिन पश्चात् मैंने उस कुम्भी को खुलवाया तो देखा कि वह मनुष्य मर चुका था किन्तु उसे कुम्भी में कोई भी छिद्र, विवर या दरार नहीं थी जिससे उसमें बन्द पुरुष का जीव बाहर निकला हो, अत: जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया -

एक ऐसी कूटागारशाला जो अच्छी तरह से आच्छादित हो, उसका द्वार गुप्त हो, यहाँ तक कि उसमें कुछ भी प्रवेश नहीं कर सके, और उस कूटागारशाला में कोई व्यक्ति जोर से भेरी बजाये तो तुम बताओ कि वह आवाज बाहर सुनायी देगी कि नहीं? निश्चय ही वह आवाज सुनायी देगी। अत: जिस प्रकार शब्द अप्रतिहत गतिवाला है उसी प्रकार आत्मा भी अप्रतिहत गतिवाला है। अत: तुम यहा श्रद्धा करो कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। (ज्ञातव्य है कि अब यह तर्क विज्ञान सम्मत नहीं रह गया है, यद्यपि आत्मा की अमूर्तता के आधार पर भी राजा के उपरोक्त तर्क का प्रत्युत्तर दिया जा सकता है)। केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया जो इस प्रकार है-

मैंने एक पुरुष को प्राण रहित करके एक लौहकुम्भी में सुलवा दिया तथा ढक्कन से उसे बन्द करके उस पर रांगे का लेप करवा दिया; कुछ समय पश्चात् जब उस कुम्भी को खोला गया तो उसे कृमिकुल से व्याप्त देखा, किन्तु उसमें कोई दरार या छिद्र नहीं था जिससे उसमें जीव प्रवेश करके उत्पन्न हुए हों। अत: जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने अग्नि से तपाये लोहे के गोले का उदाहरण दिया। जिस प्रकार लोहे के गोले में छेद नहीं होने पर भी अग्नि उसमें प्रवेश कर जाती है, उसी प्रकार जीव भी अप्रतिहत गति वाला होने से कहीं भी प्रवेश कर जाता है।

केशीकुमार श्रमण का यह प्रत्युत्तर सुनकर राजा ने पुन: एक नया तर्क प्रस्तुत किया। उसने कहा कि, मैंने एक व्यक्ति को जीवित रहते हुए और मरने के बाद दोनों ही दशाओं में तौला किन्तु दोनों के तौल में कोई अन्तर नहीं था। यदि मृत्यु के बाद आत्मा उसमें से निकली होती तो उसका वजन कुछ कम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवश्य होना चाहिए था। इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने वायु से भरी हुई और वायु से रहित मशक के तौल के बराबर होने का उदाहरण दिया और यह बताया कि जिस प्रकार वायु अगुरूलघु है उसी प्रकार जीव भी अगुरूलघु है। अत: तुम्हारा यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं। (अब यह तर्क भी वैज्ञानिक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं रह गया है क्योंकि वैज्ञानिक यह मानते हैं कि वायु में वजन होता है। दूसरे यह भी प्रयोग करके देखा गया है कि जीवित और मृत शरीर के वजन में अन्तर पाया जाता है (उस युग में सूक्ष्मतुला के अभाव के कारण यह अन्तर ज्ञात नहीं होता रहा होगा)।

राजा ने फिर एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया और कहा कि मैंने एक चोर के शरीर के विभिन्न अंगों को काटकर, चीरकर देखा लेकिन मुझे कहीं भी जीव नहीं दिखाई दिया। अत: शरीर से पृथक् जीव की सत्ता सिद्ध नहीं होती। इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने उसे निम्न उदाहरण देकर समझाया -

"हे राजन ! तू बड़ा मूढ़ मालूम होता है, मैं तुझे एक उदाहरण देकर समझाता हूँ। एक बार कुछ वनजीवी साथ में अग्नि लेकर एक बड़े जंगल में पहुँचे। उन्होंने अपने एक साथी से कहा, हे देवानुप्रिय ! हम जंगल में लकड़ी लेने जाते हैं तू इस अग्नि से आग जलाकर हमारे लिए भोजन बनाकर तैयार रखना। यदि अग्नि बुझ जाय तो लकड़ियों को घिस कर अग्नि जला लेना। संयोगवश उसके साथियों के चले जाने पर थोड़ी ही देर बाद आग बुझ गई। अपने साथियों के आदेशानुसार वह लकड़ियों को चारो ओर से उलट-पलट कर देखने लगा लेकिन आग कहीं नजर नहीं आई। उसने अपनी कुल्हाड़ी से लकड़ियों को चीरा, उनके छोटे-छोटे टुकड़े किये किन्तु फिर भी आग दिखाई नहीं दी। वह निराश होकर बैठ गया और सोचने लगा कि देखो, मैं अभी तक भोजन तैयार नहीं कर सका। इतने में जंगल में से उसके साथी लौटकर आ गये, उसने उन लोगों से सारी बाते कही। इस पर उनमें से एक साथी ने शर बनाया और शर को अरणि के साथ घिस कर अग्नि जलाकर दिखायी और फिर सबने भोजन बना कर खाया। हे पयेसी ! जैसे लकड़ी को चीरकर आग पाने की इच्छा रखने वाला उक्त मनुष्य मूर्ख था, वैसे ही शरीर को चीरकर जीव देखने की इच्छा वाले तुम भी कुछ कम मूर्ख नहीं हो। जिस प्रकार अरणि के माध्यम से अग्नि अभिव्यक्त होती है उसी प्रकार आत्मा भी शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त होती है किन्तु शरीर को चीरकर उसे देखने की प्रक्रिया उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है जैसे अरणि को चीर फाड़ कर अग्नि को देखने की प्रक्रिया। अत: हे राजा यह श्रद्धा करो कि आत्मा अन्य है और शरीर अन्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ये सभी तर्क वैज्ञानिक युग में इतने सबल नहीं रह गये हैं, किन्तु ई.पू. सामान्यतया चार्वाकों के पक्ष के समर्थन में और उनका खण्डन करने के लिये ये ही तर्क प्रस्तुत किये जाते थे। अत: चार्वाक दर्शन के ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से इनका अपना महत्त्व है। जैन और बौद्ध परम्परा में इनमें अधिकांश तर्क समान होने से इनकी ऐतिहासिकता, प्रामाणिकता और प्राचीनता भी स्वत: सिद्ध है।

जैन साहित्य में दार्शनिक दृष्टि से जहाँ तक चार्वाक दर्शन के तर्कपुरस्सर प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा का प्रश्न है सर्वप्रथम उसे आगमिक व्याख्या साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विशेषावश्यकभाष्य (ईस्वी सन् की सातवीं शती) में देखा जा सकता हैं। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा ईस्वी सन् की छठी शती में प्राकृत भाषा में निबद्ध इस ग्रन्थ की लगभग ५०० गाथायें तो आत्मा, कर्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, बन्धन-मुक्ति आदि अवधारणाओं की तार्किक समीक्षा से सम्बन्धित हैं। इस ग्रन्थ का यह अंश गणधरवाद के नाम से जाना जाता है और अब स्वतन्त्र रुप से प्रकाशित भी हो चुका है। प्रस्तुत निबन्ध में इस समग्र चर्चा को समेट पाना सम्भव नहीं था अत: इस निबन्ध को यहीं विराम दे रहे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भागवत के रचना काल के सन्दर्भ में जैन साहित्य के कुछ प्रमाण

भागवत हिन्दू परम्परा का एक अति महत्त्वपूर्ण और श्रद्धास्पद ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से श्रीकृष्ण और उनके परिजनों के जीवनवृत्त का उल्लेख हुआ है। इसी ग्रन्थ में सर्वप्रथम गोपियों के साथ उनकी रासलीला का भी उल्लेख है। इसी आधार पर विद्वानों ने इसे महाभारत से परवर्ती माना है। इसके रचनाकाल को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। जहाँ परम्परागत विद्वान इसे वेद व्यास की कृति मानकर इसका रचनाकाल ईसा से भी तीन हजार वर्ष पूर्व मानते हैं वहीं कुछ पाश्चात्य परम्परा से प्रभावित विद्वान इसको बोपदेव की रचना मानकर इसका रचनाकाल ईसा की तेरहवीं शती मानते हैं। इससे भी आगे बढ़कर कुछ विद्वानों ने इसके रासलीला वाले अंश को सोलहवीं शती का सिद्ध किया है। प्रस्तुत आलेख में हम जैन साहित्य में भागवत के उल्लेखों के आधार पर इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

जैन ग्रन्थ नन्दीसूत्र (ई. की पाँचवी शती) में श्रुत के दो भेदों - सम्यकश्रुत और मिथ्याश्रुत की चर्चा उपलब्ध होती है। इस चर्चा के प्रसंग में ग्रंथकार ने मिथ्याश्रुत से सम्बन्धित ग्रन्थों के नामों का भी उल्लेख किया है। इस उल्लेख में भागवत का भी उल्लेख हुआ है। भागवत के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है वे उसे ईसा पूर्व से लेकर ईसा की नवीं शती के मध्य रचित मानते हैं। फिर भी सामान्य अवधारणा उसे पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् का ग्रन्थ मानती है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उभरकर सामने आता है कि या तो हम भागवत का रचनाकाल लगभग पाँचवीं शती से पूर्व मानें या फिर नन्दीसूत्र को पाँचवीं शती के उत्तरार्ध के बाद का ग्रन्थ मानें। किन्तु दूसरा विकल्प इसलिए सम्भव नहीं है कि नन्दीसूत्र का रचनाकाल लगभग पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्ध सुनिश्चित ही है। उसके रचयिता देववाचक को देवर्धिगणि का गुरु माना गया है। देवर्धिगणि का अस्तित्व वीर निर्वाण संवत् ९८० अर्थात् ई.सन् ४५३ में वल्लभी वाचना के समय था, यह एक सुनिश्चित सत्य है। अत: नन्दीसूत्र के रचनाकाल को ईसा की पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से नीचे नहीं लाया जा सकता। प्रश्न यह उठता है कि क्या भागवत की रचना नन्दीसूत्र की रचना के पूर्व हो चुकी थी। निश्चय ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिकांश विद्वत् वर्ग इसी मत का है कि भागवत की रचना पाँचवीं शताब्दी से बहुत परवर्ती है। इस प्रकार यदि हम नन्दीसूत्र में भागवत के उल्लेख को स्वीकार करते हैं तो हमें दो विकल्पों में से किसी एक को स्वीकार करना होगा। या तो हम यह मानें कि नन्दीसूत्र के काल में भागवत का अस्तित्व था या यह मानें कि नन्दीसूत्र की रचना पाँचवीं शती के बाद हुई। इस समस्या के सन्दर्भ में हमने गहराई से विचार किया। प्रस्तुत प्रसंग में हमें नन्दीसूत्र के मूल-पाठ में ही दो पाठान्तर देखने को मिले हैं। आचार्य मलयगिरि ने नन्दीसूत्र की वृत्ति (ईसा की तेरहवीं शती) में जो मूल पाठ दिया है उसमें स्पष्ट रूप से भागवत का उल्लेख है[१] किन्तु जब हम नन्दीचूर्णि (ईसा की सातवीं शती) का मूलपाठ लेते हैं तो उस पाठ में स्पष्ट रूप से भागवत का उल्लेख नहीं है।[२] इससे ऐसा लगता है कि नन्दीसूत्र के मूल पाठ में भागवत का उल्लेख एक परवर्ती घटना है जो उसमें नन्दीचूर्णि के भी पश्चात् प्रविष्ट किया गया है। वस्तुत: भागवत का उल्लेख उसमें आठवीं शताब्दी के पश्चात् एवं तेरहवीं शताब्दी के पूर्व ही कभी प्रक्षिप्त किया गया है। क्योंकि आठवीं शती में हरिभद्र भी नन्दीवृत्ति के मूल पाठ में भागवत का उल्लेख नहीं करते हैं।

इस चर्चा से यह भी फलित होता है कि आगमों के पाठ निर्धारण में जब भी वृत्तियों, टीकाओं और चूर्णियों के पाठ में अन्तर हो तो हमें चूर्णिगत पाठों को ही प्राचीन एवं प्रमाण मानकर निर्णय लेना होगा। यहाँ हम यह कह सकते हैं कि मलयगिरि की वृत्ति (ई. तेरहवीं शती) में मूल पाठ में जो भागवत आदि का उल्लेख हुआ है वह निश्चय ही एक परवर्ती काल में किया गया प्रक्षेप है और मूल ग्रन्थ का अंग नहीं है।

इसी क्रम में हमने हरिभद्र सूरि (ईसा की आठवीं शती का पूर्वार्ध) की नन्दीसूत्र की वृत्ति के मूलपाठ को भी देखा, वह पाठ भी चूर्णि के पाठ के अनुरूप ही है, उसमें भी भागवत का उल्लेख नहीं है।[३] इससे यह फलित होता है कि जैन स्रोतों के आधार पर भागवत की रचना ई.सन् की आठवीं शताब्दी के पश्चात् और ई.सन् की तेरहवीं शती के पूर्व अर्थात् दोनों के मध्य कभी भी हुई होगी। याकिनीसूनु हरिभद्र के काल तक अर्थात् ईसा की आठवीं शती के पूर्वार्द्ध तक भागवत की रचना नहीं हुई थी अन्यथा चूर्णिकार जिनदास (७वीं शती) और आचार्य हरिभद्र (८वीं शती) अपनी सूचियों में कहीं तो उसका उल्लेख करते ही।

श्री शान्तनुविहारी द्विवेदी ने कल्याण के भागवत अंक में भागवत की रचना को व्यासकृत सिद्ध करते हुए उसका रचनाकाल आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[४] किन्तु उन्होंने अपने पक्ष में जो भी प्रमाण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत किये हैं वे ईसा की आठवीं शती के पूर्व नहीं जाते। उन्होंने मध्वाचार्य, रामानुज, हेमाद्रि, शंकराचार्य, चित्सुखाचार्य आदि के ग्रन्थों से जो प्रमाण प्रस्तुत किये हैं वे भी उसे ईसा की आठवीं शती के पूर्व सिद्ध नहीं करते। उन्होंने अपने पक्ष के समर्थन में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सरस्वती भवन की एक प्राचीन हस्तप्रत का छायाचित्र भी प्रस्तुत किया है - उसकी शारदा लिपि प्राचीन है, वह पड़ी मात्रा की पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती के जैन हस्तप्रतों की देवनागरी लिपि के लगभग समरूप है। अधिक से अधिक उनसे सौ वर्ष पूर्व की हो सकती है। आचार्य शंकर को जो वे ई.पू. पाँचवी शती में स्थापित करते हैं, वह मत भी प्रमाणों के आधार पर विचार करने वाले विद्वानों को मान्य नहीं है। उन्होंने राजशाही जिले के जमालगंज स्टेशन से पाँच किलोमीटर दूर स्थित पहाड़पुर से उपलब्ध राधाकृष्ण की मूर्ति का उल्लेख करके यह बताना चाहा है कि राधाकृष्ण की उपासना प्राचीन है। यह सत्य है कि पहाड़पुर (वटगोहली) से ईसा की पाँचवीं शती के कुछ पुरातात्त्विक अवशेष प्राप्त हुए हैं, उसमें इसी काल का पंचस्तूपान्वय का जैन अभिलेख भी है। किन्तु वहां से प्राप्त सभी सामग्री पाँचवी शती की है, यह मान लेना उचित नहीं है। मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से जो जैन अवशेष प्राप्त हुए थे वे ई.पू. दूसरी शती से ईसा की ग्यारहवीं शती तक के हैं। अत: यह सम्भव है कि वह राधाकृष्ण की मूर्ति परवर्ती काल की हो। जहां तक राधाकृष्ण की उपासना की प्राचीनता का प्रश्न है, श्रीमद्भागवत में भी मात्र गोपियों का उल्लेख है, राधा का कोई उल्लेख नहीं है। अत: राधा की संकल्पना तो भागवत के भी बाद की है। जैन ग्रन्थों में कृष्ण और प्रद्युम्न के उल्लेख लगभग ईसा की तीसरी-चौथी शती से वर्तमान युग तक हुए हैं, यहीं नहीं इस सम्बन्ध में सोलहवीं-सत्रहवीं शती तक जो स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे गये उनमें भी राधा का कोई उल्लेख नहीं है। जैन स्रोतों से राधा की उपासना की प्राचीनता सिद्ध नहीं होती है। मेरा आलेख मात्र जैन स्रोतों पर आधारित है, विद्वानों से अपेक्षा है कि वे अन्य साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक स्रोतों के आधार पर इसका काल निर्णय करें। जहाँ तक भागवत के रचना काल का प्रश्न है जैन स्रोतों के आधार पर वह आठवीं शती के बाद का ही ग्रन्थ सिद्ध होता है।

सन्दर्भ :

१. "से किं तं मिच्छासुअं? जं इमं अन्नाणिएहिं मिच्छादिट्ठिएहिं सच्छंदबुद्धिमइविगप्पिअं, तं जहा - भारहं रामायणं भीमासुरूक्खं, कोडिल्लयं सगडभद्दिआओ खोड (घोडग) मुहं कप्पसिअं नागसुहुमं कनगसत्तरी वइसेसिअं बुद्धवयणं तेरासियं कावलिअं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोगाययं सट्ठितंतं माढरं पुराणं वागरणं भागवं पायंजली पुस्सदेवयं लेहं गणिअं सउगरूअं नाडयाइं अहवा बावत्तरिकलाओ चत्तारि अ वेआ संगोवंगा।''

नन्दीसूत्र मलयगिरि की टीका का मूलपाठ, आगम सुत्ताणि सटीकं भाग ३०,

सं. मुनिदीपरत्नसागर - आगम श्रुत प्रकाशन, अहमदाबाद पृ.१८७

२. ''से किं तं मिच्छसुत्तं? मिच्छसुत्तं जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छदिट्ठिएहिं सच्छंदबुद्धि - मतिवियप्पियं, तं जहा-भारहं, रामायणं, भीमासुरक्खं कोडल्लयं सगभद्दियाओं खोडमुहं कप्पासियं नामसुहुमं कणगसत्तरी वइसेसियं बुद्धवयणं वेसितं कविलं लोगायतं सट्ठितंतं माढरं पुराणं वागरणं णाडगादी अहवा बावत्तरिकलाओ चत्तारि य वेदा संगोवंगा।''

नन्दीसूत्र चूर्णि का मूलपाठ पृ. ४९- प्राकृत टेक्स्ट सोसाईटी, अहमदाबाद १९६६

३. ''से किं तं मिच्छसुतं? मिच्छसुतं जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छदिट्ठिएहिं सच्छंदबुद्धि - मतिवियप्पियं, तं जहा-भारहं, रामायणं, हंभीमासुरक्खं कोडाल्लयं सगभद्दियाओ खोडमुहं कप्पासियं नामसुहुमं कणगसत्तरी वइसेसियं बुद्धवयणं वेसितं कविलं लोगायतं सट्ठितंतं माढरं पुराणं वागरणं णाडगादी अहवा बावत्तरिकलाओ चत्तारि य वेदा संगोवंगा।''

नन्दीसूत्र की हरिभद्रीय टीका का मूलपाठ - पृ. ६४, प्राकृत टेक्स्ट सोसाईटी, अहमदाबाद १९६६

४. कल्याण - भागवत अंक - गीताप्रेस गोरखपुर पृ. ५६-५९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना

बौद्धधर्म भारत की श्रमण परम्परा का धर्म है। सामान्यतया श्रमण परम्परा को निवृत्तिमार्गी माना जाता है और इस आधार पर यह कल्पना की जाती है कि निवर्तक धारा का समर्थक और संन्यासमार्गी परम्परा का होने के कारण बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना का अभाव है। यद्यपि बौद्धधर्म संसार की दु:खमयता का चित्रण करता है और यह मानता है कि सांसारिक तृष्णाओं और वासनाओं के त्याग से ही जीवन के परमलक्ष्य निर्वाण की उपलब्धि सम्भव है। यह भी सत्य है कि श्रमणधारा के अन्य धर्मों की तरह प्रारम्भिक बौद्धधर्म में भी श्रामण्य या भिक्षु-जीवन पर अधिक बल दिया गया। उसमें गृहस्थ धर्म और गृहस्थ जीवनशैली को वरीयता प्रदान नहीं की गयी, किन्तु इस आधार पर यह मान लेना कि बौद्ध धर्म सामाजिक चेतना अर्थात् समाज कल्याण की भावना से पराङ्मुख रहा है, भ्रांतिपूर्ण ही होगा। फिर भी यहाँ हमें यह ध्यान में रखना होगा कि श्रमण परम्परा में जो सामाजिक सन्दर्भ उपस्थित हैं, वे अवश्य ही प्रवर्तक धर्मों की अपेक्षा थोड़े भिन्न प्रकार के हैं।

सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि से भारतीय चिन्तन को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। जहां वैदिक युग में 'संगच्छध्वं, संवदध्वं' के उद्घोष के द्वारा सामाजिक चेतना को विकसित करने का प्रयत्न किया गया, वहीं औपनिषदिक युग में इस सामाजिक चेतना के लिये दार्शनिक आधार का प्रस्तुतीकरण किया गया। समाज के सदस्यों के बीच अभेद निष्ठा जागृत करके एकात्मकता की अनुभूति कराने का प्रयत्न किया गया। ईशावास्योपनिषद् का ऋषि कहता है :-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।। सूत्र - ६

अर्थात् जो सभी प्राणियों को अपने से और अपने को सभी प्राणियों में देखता है, वह इस एकात्मकता की अनुभूति के कारण किसी से भी घृणा नहीं करता है। औपनिषदिक युग में यह एकात्मकता की अनुभूति ही सामाजिक चेतना का आधार बनी। किन्तु सामान्यरूप से श्रमण परम्परा में जो सामाजिक चेतना के सन्दर्भ उपस्थित हैं वे वस्तुत: सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि के लिए हैं। बौद्धधर्म

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में मुख्यत: सामाजिक जीवन को दूषित बनाने वाले तत्त्वों के निरसन पर बल दिया गया है। बौद्धधर्म की पंचशील की अवधारणा में वस्तुत: उन दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने का प्रयत्न किया गया है जो हमारे सामाजिक सम्बन्धों को विकृत करती थीं। पंचशीलों के माध्यम से उसमें जो हिंसा, असत्यभाषण, चौर्यकर्म, व्यभिचार और मादक द्रव्यों के सेवन से दूर रहने की बात कही गयी है उसका मुख्य आधार हमारी सामाजिक चेतना ही है। हिंसा का अर्थ है दूसरे प्राणियों को कष्ट देना, उनके हितों की उपेक्षा करना, इसी प्रकार असत्य भाषण का तात्पर्य दूसरों को गलत जानकारी देना या उनके साथ कपटपूर्ण व्यवहार करना। चोरी का अर्थ है, दूसरों की सम्पत्ति का अपहरण या शोषण करना। इसी प्रकार व्यभिचार का मतलब है सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध यौन सम्बन्ध स्थापित करना और सदाचार के मूल्यों की अवहेलना कर सामाजिक सम्बन्धों को विषाक्त एवं अस्थिर बनाना। इसी प्रकार मादक द्रव्यों का सेवन भी सामाजिक चेतना और दायित्वबोध की उपेक्षा का ही कारण कहा जा सकता है। यदि हम गहराई से विचार करें तो सामाजिक जीवन के अभाव में इन पंचशीलों का कोई अर्थ और संदर्भ ही नहीं रह जाता। पंचशील के रूप में जो मर्यादाएँ बौद्ध धर्म के द्वारा प्रस्तुत की गयी हैं, उनका मुख्य सम्बन्ध हमारे सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि से ही है। बौद्ध साहित्य में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं, जो व्यक्ति को उसके सामाजिक सम्बन्धों और दायित्वों का बोध कराते हैं, जिनकी चर्चा हम इसी आलेख के अन्त में कर रहे हैं।

संघ की सर्वोपरिता

श्रमण परम्परा में और विशेष रूप से बौद्धधर्म में धर्मसंघ की स्थापना का जो प्रयत्न हुआ वह वस्तुत: इस बात का सूचक है कि बौद्ध धर्म में उसके प्रारम्भिक काल से ही सामाजिक चेतना उपस्थित थी। सामूहिक-साधना या संघीय जीवनशैली बौद्ध धर्म की विशिष्ट देन है। बुद्ध ने अपने जीवन के अंतिम क्षण तक संघीय-जीवन और संघ की महत्ता को स्वीकार किया। अपने परिनिर्वाण के अवसर पर भी उन्होंने अपने स्थान पर किसी भिक्षु को स्थापित न करके यही कहा कि मेरे पश्चात् संघ ही भिक्षु-भिक्षुणी वर्ग का अनुशास्ता होगा। जो लोग बौद्धधर्म को श्रमण या संन्यासमार्गीय परम्परा का धर्म होने के कारण यह कहते हैं कि उसमें सामाजिक चेतना का अभाव है वे वस्तुत: बौद्धधर्म की इस सामाजिक प्रकृति से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। बौद्धधर्म में सदैव ही संघ की महत्ता और गरिमा का गुण-गान किया गया और साधनामय जीवन में सहवर्गीय भिक्षु और प्राणियों की सेवा को साधना का उच्च आदर्श माना गया। समस्त आचार नियमों का मूल स्रोत

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बुद्ध के पश्चात् संघ ही रहा है। संघ की दूसरे शब्दों में समाज की सर्वोपरिता को बौद्धधर्म ने सदैव ही स्वीकार किया है। त्रिशरणों में 'संघशरण' का विधान इस बात का प्रमाण है कि बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना को सदैव ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

राग का प्रहाण और सामाजिक चेतना

बौद्धधर्म राग के प्रहाण पर बल देता है और इसीलिए वह श्रामण्य (संन्यास) और निर्वाण की बात कहता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि राग का प्रहाण ही ऐसा तत्त्व है, जो व्यक्ति की सामाजिक चेतना को अवरुद्ध करता है, किन्तु यह मान्यता भ्रान्त ही है। राग या ममत्व से ऊपर उठने का अर्थ सामाजिकता की चेतना से विलग होना नहीं है। यह सत्य है कि राग के प्रहाण के लिये व्यक्ति श्रामण्य को स्वीकार करता है और अपने पारिवारिक सम्बन्धों को भी तोड़ लेता है किन्तु यह पारिवारिक जीवन से विरक्त होना सामाजिक जीवन से विमुख होना नहीं है, अपितु यह हमारी सामाजिक चेतना और सामाजिक सम्बन्धों को व्यापक बनाने का ही एक प्रयत्न है। वास्तविकता तो यह है कि रागात्मकता की उपस्थिति में हमारे यथार्थ सामाजिक सम्बन्ध बन ही नहीं पाते। राग हमें व्यापक बनाने की अपेक्षा सीमित ही करता है। वह अपने और पराये का घेरा खड़ा करता है। यदि हम ईमानदारीपूर्वक विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि सामाजिक जीवन और सामाजिक सम्बन्धों की विषमता के मूल में कहीं न कहीं व्यक्ति की रागात्मकता ही कार्य करती है। मैं और मेरा ऐसे प्रत्यय हैं जो हमें चाहे कुछ लोगों के साथ जोड़ते हों, लेकिन वे हमें बहुजन समाज से तो अलग ही करते हैं। ममत्व की उपस्थिति हमारी सामाजिक चेतना की संकीर्णता की ही सूचक है। रागभावना जोड़ने का काम कम और तोड़ने का काम अधिक करती है। ममत्व की उपस्थिति में समत्व सम्भव नहीं है और समता के अभाव में सामाजिकता नहीं होती है। सामान्यतया राग-द्वेष का सहगामी होता है और जब सम्बन्ध राग और द्वेष के आधार पर बनते हैं तो वे विषमता और संघर्ष को जन्म देते हैं। बोधिचर्यावतार में आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं -

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यावन्ति दुःखानि भयानि च ।
सर्वाणि तान्यात्मपरिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रहेण ।।
आत्मानमपरित्यज्य दुःखं त्यक्तुं न शक्यते ।
यथाग्निमपरित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् संसार के सभी दुःख और भय तथा तज्जन्य उपद्रव ममत्व के कारण ही होते हैं, जब तक ममत्व बुद्धि का परित्याग नहीं किया जाता, तब तक उन दुःखों की समाप्ति सम्भव नहीं है। जैसे अग्नि का परित्याग किये बिना तज्जन्य दाह से बचना सम्भव नहीं है, वैसे ही ममत्व का परित्याग किये बिना दुःख से बचना सम्भव नहीं है। पर में आत्मबुद्धि या राग भाव के कारण ही "मैं" और "मेरे" पन का भाव उत्पन्न होता है। यही ममत्व भाव है। इसी आधार पर व्यक्ति मेरा परिवार, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र ऐसे क्षुद्र घेरे बनाता है। परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद, साम्प्रदायिकता और संकुचित राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज यदि मानव जाति के सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में कोई भी तत्त्व सबसे अधिक बाधक है तो वह ममत्व या रागात्मकता का भाव ही है। ममत्व या रागात्मकता व्यक्ति को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठने देती। बौद्ध दर्शन इसी लिए राग के प्रहाणपर बल देकर सामाजिक चेतना को एक यथार्थ दृष्टि प्रदान करता है। क्योंकि राग सदैव ही कुछ पर होता है और जो कुछ पर होता है वह सब पर नहीं हो सकता है। राग के कारण हमारे स्व की सीमा संकुचित होती है। यह अपने और पराये के बीच दीवार खड़ी करता है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है, उसके हित की कामना करता है, और जिसे पराया मानता है उसके हितों का हनन करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि उन्हीं के प्रति किये जाते हैं जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। अतः रागात्मक सम्बन्धों के आधार पर सामाजिकता की सच्ची चेतना जागृत नहीं होती।

यद्यपि रागात्मकता या ममत्व के घेरे को पूरी तरह तोड़ पाना सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उसका एक सीमा तक विसर्जन किये बिना अपेक्षित सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता। परिवार की सेवा के लिये हमें अपने वैयक्तिक क्षुद्र स्वार्थों को, समाज की सेवा के लिये पारिवारिक स्वार्थों को और राष्ट्र की सेवा के लिये जाति, धर्म और वर्ग के क्षुद्र स्वार्थों को छोड़ना होगा। इन क्षुद्र स्वार्थों का एक सीमा तक विसर्जन किये बिना सामाजिक चेतना का विकास सम्भव नहीं है। ममत्व एवं स्वहित की वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से सामाजिकता की विरोधी सिद्ध होती है। उसके होते हुए एक व्यापक सामाजिक चेतना का विकास सम्भव नहीं होता है।

पुनः समाज त्याग और समर्पण के मूल्यों के आधार पर खड़ा होता है। यदि मुझे पत्नी, बच्चों एवं परिवार की सेवा करना है तो कहीं न कहीं अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैयक्तिक स्वार्थों को त्यागना ही होगा। इसी प्रकार राष्ट्र की सेवा के लिए पारिवारिक और जातीय स्वार्थों को छोड़ना ही होगा। यही नहीं, यदि हम समग्र मानव जाति या प्राणिमात्र का कल्याण चाहते हैं तो राष्ट्रीयता के क्षुद्र घेरे से भी ऊपर उठना होगा। इस विश्लेषण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि बौद्ध परम्परा में जो राग और तृष्णा के प्रहाण की बात की गयी है वह सामाजिक चेतना के विकास में बाधक नहीं अपितु साधक है। हमारे सामाजिक सम्बन्धों का आधार राग नहीं, अपितु विवेक का तत्त्व होना चाहिए। कर्तव्यबोध की भावना ही एक ऐसा तत्त्व है जो हमारी सामाजिक चेतना का आधार बन सकता है। राग की भाषा मेरेपन की भाषा है, अधिकार की भाषा है, जबकि विवेक की भाषा कर्तव्यबोध की भाषा है। जहां केवल अधिकारों की बात होती है वहां केवल विकृत सामाजिकता पनपती है। राग के आधार पर जो भी सामाजिक चेतना निर्मित होगी वह अनिवार्य रूप से वर्ग भेद और वर्ण भेद को जन्म देगी। बौद्धधर्म में जिस सामाजिक चेतना के निर्माण की बात कही गयी है वह सामाजिक चेतना प्रज्ञा और सार्वभौम करुणा के आधार पर फलित होती है। उसमें मेरे और तेरे या अपने या पराये की चेतना ही समाप्त हो जाती है। परम प्रज्ञा से जो करुणा निःसृत होती है, वह सीमित नहीं होती है, वह अनन्त होती है, वह किसी एक पर नहीं, अपितु सभी पर होती है।

संन्यास और समाज-सेवा

सामान्यतया संन्यास की अवधारणा को भी सामाजिकता का विरोधी माना जाता है। बौद्धधर्म निश्चय ही एक संन्यासमार्गी परम्परा का धर्म है। यह भी सही है कि संन्यासी घर, परिवार और समाज से अपना सम्बन्ध तोड़ लेता है तथा धन, सम्पत्ति का भी परित्याग कर देता है। मात्र यही नहीं, एक सच्चा संन्यासी तो लोकेषणा का भी त्याग कर देता है, किन्तु धन, सम्पदा, परिवार और लोकेषणा का त्याग, समाज का परित्याग नहीं है, वस्तुतः यह त्याग स्वार्थवृत्ति का त्याग है, वासनामय जीवन का त्याग है। संन्यासी का यह संकल्प उसे समाज विमुख नहीं बनाता है अपितु समाज कल्याण की उच्चतर भूमिका में अधिष्ठित करता है। क्योंकि सच्चा समाज कल्याण निःस्वार्थता और विराग की भूमि पर अधिष्ठित होकर ही किया जा सकता है। अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए एकत्रित व्यक्तियों का समूह समाज नहीं होता और ऐसे स्वार्थी और वासना-लोलुप व्यक्तियों तथाकथित सेवा का कार्य समाज-सेवा की कोटि में नहीं आता है। समाज उन लोगों का समूह होता है जो अपने वैयक्तिक और पारिवारिक हितों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का परित्याग करते हैं। नि:स्वार्थभाव से लोकमंगल के लिए उठ खड़े होते हैं। चोरों और लुटेरों का भी समूह होता है किन्तु वह समाज नहीं कहलाता। समाज की भावना ही वहीं पनपती है, जहाँ त्याग और स्वहित के विसर्जन का संकल्प होता है। भगवान बुद्ध ने जो भिक्षु संघ की व्यवस्था दी, वह सामाजिक चेतना की विरोधी नहीं है। बौद्ध भिक्षु लोकमंगल और सामाजिक दायित्वों से विमुख होकर भिक्षु नहीं बनता, अपितु वह लोककल्याण के लिए ही भिक्षु जीवन अंगीकार करता है। बुद्ध का यह आदेश- "चरत्थभिक्खवे चारिक्कं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय, लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमुनस्सानं" इस बात का प्रमाण है कि उनका भिक्षु संघ लोकमंगल के लिए ही है। संन्यास की भूमिका में निश्चित ही स्वार्थ और ममत्व के लिए कोई स्थान नहीं है। फिर भी संन्यास लोक कल्याण और सामाजिक दायित्वों से पलायन नहीं है, अपितु बहुजन समाज के प्रति समर्पण है। सच्चा श्रमण उस भूमिका पर खड़ा होता है जहां वह अपने को समष्टि में और समष्टि को अपने में देखता है। वस्तुत: निर्ममत्व और नि:स्वार्थभाव से तथा अपने और पराये के संकीर्ण घेरे से ऊपर उठकर लोककल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहना, श्रमण जीवन की सच्ची भूमिका है। सच्चा श्रमण वह व्यक्ति है जो लोकमंगल के लिए अपने को और अपने शरीर को भी समर्पित कर देता है।

संन्यास का तात्पर्य है व्यक्ति अपने और पराये के घेरे से ऊपर उठे और प्राणिमात्र के प्रति उसका हृदय करुणाशील बने ।

आचार्य शान्तिदेव बोधिचर्यावतार में लिखते हैं -

कायस्यावयवत्वेन यथाभीष्टा करादय: ।
जगतोऽवयवत्वेन तथा कस्मान्नदेहिन: ।। बोधि॰ ८/११४

जिस प्रकार हाथ आदि स्व शरीर के अवयव होने से प्रिय हो जाते हैं तो फिर जगत् के अवयव होने से सभी प्राणी प्रिय क्यों नहीं होंगे ?

वस्तुत: सच्चा श्रमण और सच्चा संन्यासी वह व्यक्ति होता है जिसकी चेतना अपने और पराये के भेद से ऊपर उठ जाती है। श्रामण्य की भूमिका न तो आसक्ति की भूमिका है और न उपेक्षा की, अपितु वह एक ऐसी भूमिका है जहां मात्र कर्तव्य भाव से लोक कल्याण के भाव से जीवन के व्यवहार फलित होते हैं। समाज में नैतिक चेतना को जागृत करना तथा समाज में आनेवाली दुष्प्रवृत्तियों से व्यक्तियों एवं समाज को बचाकर लोक मंगल के लिए प्रेरित करना ही संन्यासी का सर्वोपरि कर्तव्य माना गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्वाण का प्रत्यय और समाज

यद्यपि बौद्ध दर्शन में निर्वाण को साधना का सर्वोपरि लक्ष्य माना गया है, किन्तु निर्वाण का यह प्रत्यय भी सामाजिक चेतना से विमुख नहीं कहा जा सकता है। निर्वाण का अर्थ है तृष्णा और आसक्ति का प्रहाण। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में यह मानसिक तनावों से मुक्ति का प्रयास ही है। वस्तुत: निर्वाण प्राप्त चित्त एक ऐसा शांत चित्त होता है, जो तनावों एवं विक्षोभों से मुक्त रहता है। यदि हम निर्वाण के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता के सन्दर्भ में विचार करें तो हमें इन्हीं मानसिक विक्षोभों के निराकरण के सन्दर्भ में ही उस पर विचार करना होगा। सम्भवत: इस सम्बन्ध में कोई भी दो मत नहीं होगा कि राग, द्वेष, तृष्णा, आसक्ति, ममत्व, ईर्ष्या, वैमनस्य आदि मनोवृत्तियॉ हमारे सामाजिक जीवन के लिए अधिक घातक हैं। यदि इन मनोवृत्तियों से मुक्त होना ही मुक्ति का अर्थ है तो मुक्ति का सम्बन्ध हमारे सामाजिक जीवन के साथ जुड़ जाता है। निर्वाण मात्र एक मरणोत्तर अवस्था नहीं है अपितु वह हमारे जीवन से सम्बन्धित है। भारतीय चिन्तकों ने मोक्ष को पुरुषार्थ माना है। उसका तात्पर्य यह है कि वह इसी जीवन से प्राप्तव्य है। जो लोग निर्वाण को एक मरणोत्तर अवस्था मानते हैं, वे निर्वाण के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं।

इस जीवनमुक्ति के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता को हम अस्वीकार भी नहीं कर सकते, क्योंकि जीवनमुक्त एक ऐसा व्यक्ति है जो सदैव लोक-कल्याणकारी होता है। बौद्ध दर्शन में बुद्ध, अर्हत् एवं बोधिसत्व की जो अवधारणाएँ प्रस्तुत की गयी हैं और उनके व्यक्तित्व को जिस रूप में चित्रित किया गया है, उससे हम निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि निर्वाण के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता भी है। वह लोक मंगल और मानव-कल्याण का एक महान आदर्श माना जा सकता है। जन-जन को दु:खों से मुक्त करना ही वास्तविक मुक्ति है। बौद्ध दार्शनिकों ने वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा लोक-कल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहने को अधिक महत्त्व दिया है। बौद्ध-दर्शन में बोधिसत्व का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह हमें स्पष्ट रूप से यह बताता है कि केवल वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। बोधिसत्व तो लोकमंगल के लिए अपने बन्धन और दु:ख की कोई परवाह नहीं करता, वह कहता है -

बहुनामेकदु:खेन यदि दु:खं विगच्छति ।
उत्पाद्यमेव तद् दु:खं सदयेन परात्मनो: ।। बोधि० ८/१०५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रमोद्यसागराः ।
तैरेव ननु पर्याप्तं, मोक्षेणारसिकेन किम् ।। बोधि० ८/१०८

यदि एक के कष्ट उठाने से बहुतों का दुःख दूर होता हो, तो करुणापूर्वक उनके दुःखों को दूर करना ही अच्छा है। प्राणियों को दुःखों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनन्द प्राप्त होता है, वह क्या कम है, फिर नीरस निर्वाण प्राप्त करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है?

इस प्रकार हम देखते हैं कि निर्वाण की अवधारणा भी सामाजिकता की विरोधी नहीं है। बौद्ध दर्शन में निर्वाण का अर्थ है आत्मभाव का पूर्णतया विगलन। वस्तुतः मैं, अहं और मेरेपन के भाव से मुक्त हो जाना ही निर्वाण प्राप्त करना है। इस दृष्टि से निर्वाण का अर्थ है, अपने आपको मिटाकर समष्टि या समाज में लीन कर लेना। बौद्ध दर्शन में वही व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है जो अपने व्यक्तित्व को समष्टि में लीन कर दे। आचार्य शान्तिदेव 'बोधिचर्यावतार' में लिखते हैं-

सर्वत्यागश्च निर्वाणं, निर्वाणार्थि च मे मनः ।
त्यक्त्वं चेन्मया सर्वं वरं सत्त्वेषु दीयताम् ।। बोधि० ३/११

अथार्त् यदि सर्व का त्याग ही निर्वाण है और मेरा मन निर्वाण को चाहता है, तो सब कुछ जो त्याग करना है, उसे अन्य प्राणियों को क्यों न दे दिया जाये। इस प्रकार शांतिदेव की दृष्टि में व्यक्ति का पूर्णतः समष्टि में लीन हो जाना अर्थात् अपने को प्राणिमात्र की सेवा में समर्पित कर देना ही साधना का एकमात्र आदर्श है। अतः निर्वाण का प्रत्यय सामाजिकता का विरोधी है, यह धारणा भ्रान्त है।

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि बौद्ध दर्शन में, चाहे श्रामण्य या संन्यास का प्रत्यय हो, चाहे निर्वाण का, वह किसी भी अर्थ में सामाजिकता का विरोधी नहीं है। बौद्ध आचार्यों की दृष्टि और विशेषकर महायान आचार्यों की दृष्टि सदैव ही सामाजिक चेतना से परिपूर्ण रही है और उन्होंने सदैव ही लोक मंगलकारी दृष्टि को जीवन का आदर्श माना है। आचार्य शान्तिदेव बोधिचर्यावतार (८/१२५-१२९) में बौद्ध धर्म और दर्शन में सामाजिक चेतना कितनी उदात्त है, इसका स्पष्ट चित्रण करते हैं। हम यहां उनके वचनों को यथावत प्रस्तुत कर रहे हैं -

यदि दास्यामि किं भोक्ष्ये इत्यात्मार्थे पिशाचता ।
यदि भोक्ष्ये किं ददामीति परार्थ देवराजता ।। बोधि० ८/१२५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'यदि दूंगा तो मैं क्या खाऊंगा' यह विचार पिशाचवृत्ति है। अपने खाने को दूसरे की अपेक्षा पराये के लिए देने की भावना रखना ही देवराजता है।

आत्मार्थं पीडयित्वान्यं नरकादिषु पच्यते ।
आत्मानं पीडयित्वा तु परार्थं सर्वसंपदः ।। बोधि० ८/१२६

अपने लिए दूसरे को पीड़ा देकर (मनुष्य को) नरक आदि में पकना पड़ता है। पर दूसरे के लिए स्वयं क्लेश उठाने से (मनुष्य को) सब सम्पत्तियां मिलती हैं।

दुर्गतिर्नीचता मोर्ख्यं ययैवात्मोन्नतीच्छया।
तामेवान्यत्र संक्राम्य सुगतिः सत्कृतिर्मतिः।। बोधि० ८/१२७

अपने प्रकर्ष की जिस इच्छा से दुर्गति, परवशता और मूर्खता मिलती है, उसी (इच्छा) का दूसरों के हित में संक्रमण करने से सुगति, सत्कार और प्रज्ञा मिलती है।

आत्मार्थं परमाज्ञाप्य दासत्वायद्यनुभूयते ।
परार्थं त्वेनमाज्ञाप्य स्वामित्वाद्यनुभूयते ।। बोधि० ८/१२८

अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को आज्ञा देकर, उस कर्म के परिणाम स्वरूप दासता आदि का अनुभव करना पड़ता है। किन्तु दूसरे के हित के लिए अपने को आज्ञा देकर उस कर्म के फलस्वरूप प्रभुता आदि का अनुभव करने को मिलता है।

ये केचिद् दुःखिता लोके सर्वे ते स्वसुखेच्छया ।
ये केचित् सुखिता लोके सर्वे तेऽन्यसुखेच्छया ।। बोधि० ८/१२९

संसार में जो कोई दुःखी हैं, वे सब अपनी सुखेच्छा के कारण। संसार में जो कोई सुखी हैं, वे परकीय सुखेच्छा के कारण हैं।

इस समग्र चिन्तन में यह फलित होता है कि बौद्धधर्म में लोकमंगल की उदात्त भावना भगवान बुद्ध से लेकर परवर्ती आचार्यों में भी यथावत कायम रही है। भगवान बुद्ध ने जो 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' का उद्घोष किया था वह बौद्ध धर्म दर्शन का मुख्य अधिष्ठान है।

ऐसी लोकमंगल की सर्वोच्च भावना का प्रतिबिम्ब हमें आचार्य शान्तिदेव के 'शिक्षासमुच्चय' नामक ग्रन्थ में मिलता है। हिन्दी में अनूदित उनकी निम्न पंक्तियां मननीय हैं-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस दु:खमय नरलोक में,
जितने दलित, बन्धग्रसित, पीड़ित विपत्ति विलीन हैं,
जितने बहुधन्थी विवेक विहीन हैं ।
जो कठिन भय से और दारुण शोक से अतिदीन हैं,
वे मुक्त हों निजबन्ध से, स्वच्छन्द हों सब द्वन्द्व से,
छूटे दलन के फन्द से,
हो ऐसा जग में, दु:ख से विलखे न कोई,
वेदनार्थ हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,
असन्मार्ग धरे न कोई,
हो सभी सुखशील, पुण्याचार धर्मव्रती,
सबका हो परम कल्याण,
सबका हो परम कल्याण ।।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म निरपेक्षता और बौद्धधर्म

वैज्ञानिक प्रगति के परिणाम स्वरूप आज हमारा विश्व सिमट गया है। विभिन्न संस्कृतियों और विभिन्न धर्मों के लोग आज एक दूसरे के निकट सम्पर्क में हैं। साथ ही वैज्ञानिक एवं औद्योगिक प्रगति के कारण और विशिष्टीकरण से हम परस्पराश्रित हो गये हैं। आज किसी भी धर्म और संस्कृति के लोग दूसरे धर्मों और संस्कृतियों से निरपेक्ष होकर जीवन नहीं जी सकते। हमारा दुर्भाग्य यह है कि इस परिवेशजन्य निकटता और पारस्परिक निर्भरता के बावजूद आज मनुष्य मनुष्य के बीच हृदय की दूरियां बढ़ती जा रही हैं। वैयक्तिक या राष्ट्रीय स्वार्थलिप्सा एवं महत्त्वाकांक्षा के कारण हम एक-दूसरे से कटते चले जा रहे हैं। धर्मों और धार्मिक सम्प्रदायों के संघर्ष बढ़ते जा रहे हैं और मनुष्य आज भी धर्म के नाम पर दमन, अत्याचार, नृशंसता और रक्तप्लावन का शिकार हो रहा है। एक धर्म और एक सम्प्रदाय के लोग दूसरे धर्म और सम्प्रदाय को मटियामेट करने पर तुले हुए हैं। इन सब परिस्थितियों में आज राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर धर्मनिरपेक्षता का प्रश्न अत्यन्त प्रासङ्गिक हो गया है। धर्मनिरपेक्षता से ही धर्मों के नाम पर होने वाली इन सब दुर्घटनाओं से मानवता को बचाया जा सकता है।

इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम हमें यह विचार करना होगा कि धर्मनिरपेक्षता से हमारा क्या तात्पर्य है? वस्तुत: धर्मनिरपेक्षता को अंग्रेजी शब्द 'सेक्युलरिज्म' का हिन्दी पर्यायावाची मान लिया गया है। हम अक्सर 'सेक्युलर स्टेट' की बात करते हैं। यहाँ हमारा तात्पर्य ऐसे राज्य/राष्ट्र से होता है जो किसी धर्म विशेष को राष्ट्रीय धर्म के रूप में स्वीकार नहीं करके अपने राष्ट्र में प्रचलित सभी धर्मों को अपनी-अपनी साधना पद्धति को अपनाने की स्वतन्त्रता, अपने विकास के समान अवसर और सभी के प्रति समान आदर भाव प्रदान करता है। अत: राष्ट्रीय नीति के सन्दर्भ में 'सेक्युलरिज्म' का अर्थ धर्मविहीनता नहीं अपितु किसी धर्म विशेष को प्रमुखता न देकर, सभी धर्मों के प्रति समव्यवहार है। जो लोग धर्मनिरपेक्षता का अर्थ धर्म अथवा नीति विहीनता करते हैं, वे भी एक भ्रान्त धारणा को प्रस्तुत करते हैं। कोई भी व्यक्ति अथवा राष्ट्र धर्मविहीन नहीं हो सकता, क्योंकि धर्म एक जीवनशैली है। सेक्युलरिज्म या धर्मनिरपेक्षता के लिए महात्मा गांधी ने हमें 'सर्वधर्म समभाव' शब्द दिया था, जो अधिक महत्त्वपूर्ण और सार्थक है। सभी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मों की सापेक्षिक मूल्यवत्ता को स्वीकार करते हुए उनके विकास के समान अवसर प्रदान करना ही धर्मनिरपेक्षता है। इसका तात्पर्य है कि धार्मिक दुर्भिनिवेश एवं मताग्रह से मुक्त होना ही दृष्टि की परिवासना से मुक्त होना है। वह किसी दृष्टि/कर्मकाण्ड/उपासना पद्धति से बंधना नहीं है। इसी प्रकार 'धर्म' शब्द भी अनेक अर्थ में प्रयुक्त होता है। वह एक ओर वस्तुस्वरूप का सूचक है तो दूसरी ओर कर्तव्य और किसी साधना या उपासना की पद्धति विशेष का भी सूचक है। अत: जब हम धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के सन्दर्भ में 'धर्म' शब्द का प्रयोग करें, तो हमें उसके अर्थ के सम्बन्ध में स्पष्टता रखनी होगी। प्रस्तुत सन्दर्भ में धर्म का अर्थ न स्वभाव है, न कर्तव्य और न सदाचरण है। धर्म निरपेक्षता के सन्दर्भ में 'धर्म' शब्द आध्यात्मिक साधना और उपासना की पद्धति विशेष का परिचायक है, जो किसी सीमा तक नीति और आचार के विशेष नियमों से भी जुड़ा है। अत: धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य उपासना या साधना की विभिन्न पद्धतियों की सापेक्षिक सत्यता और मूल्यवत्ता को स्वीकार करना है। संक्षेप में किसी एक धर्म/सम्प्रदाय/कर्मकाण्ड या उपासना की पद्धति के प्रति प्रतिबद्ध न होकर साधना और उपासना की सभी पद्धतियों को विकसित होने एवं जीवित रहने का समान अधिकार प्रदान करना ही धर्मनिरपेक्षता है।

जब हम बौद्धधर्म के सन्दर्भ में इस धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा पर विचार करते हैं तो हमें इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए कि बौद्धधर्म भी एक धर्मविशेष ही है, अत: उसमें धर्मनिरपेक्षता का वह अर्थ नहीं है जिसे सामान्यतया हम स्वीकार करते हैं। उसमें धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य दूसरे धर्मों के प्रति समादर भाव से अधिक नहीं है। यह भी सत्य है कि बौद्धधर्म में अन्य धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं की उसी प्रकार समीक्षा की गई है जिस प्रकार अन्य धर्मों एवं दर्शनों में बौद्धधर्म की गई थी। फिर भी बौद्धधर्म में सर्वधर्मसमभाव एवं धार्मिक सहिष्णुता के पर्याप्त आधार हैं।

भारतीय संस्कृति और भारतीय चिन्तन प्रारम्भ से ही उदारवादी और समन्वयवादी रहा है। भारतीय चिन्तन की इसी उदारता एवं समन्वयवादिता के परिणामस्वरूप हिन्दूधर्म विभिन्न साधना और उपासना की पद्धतियों का एक ऐसा संग्रहालय बन गया कि आज कोई भी विद्वान हिन्दू धर्म की सुनिश्चित परिभाषा देने में असफल हो जाता है। उपासना एवं कर्मकाण्ड की आदिम प्रवृत्तियों से लेकर अद्वैत वेदान्त का श्रेष्ठतम दार्शनिक सिद्धान्त उसमें समाहित है। प्रकृति पूजा के विविध रूपों से लेकर निर्गुण-साधना का विकसित रूप उसमें परिलक्षित होता है। उसकी धार्मिक समन्वयशीलता हमारे सामने एक अद्वितीय आदर्श उपस्थित करती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय चिन्तनधारा का ही अंग होने के कारण बौद्धधर्म भी अपने प्रारम्भिक काल से लेकर आज तक धार्मिक समन्वयशीलता और सर्वधर्मसमभाव का आदर्श प्रस्तुत करता रहा है। क्योंकि उसने प्रतिद्वन्दी धर्मों को शक्ति के बल पर समाप्त करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। एक ओर उसकी इस समन्वयवादिता का परिणाम यह हुआ कि वह व्यापक हिन्दू धर्म में आत्मसात् होकर भारत में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रख सका, किन्तु दूसरी ओर उसने अपनी इस समन्वयवादिता के परिणामस्वरूप विश्व के धर्मों में शीर्षस्थ स्थान प्राप्त कर लिया और भारत के बाहर भूटान, तिब्बत, चीन, वियतनाम, जापान, कम्बोडिया, थाईलैण्ड, बर्मा, लंका आदि देशों में उनकी संस्कृतियों से समन्वय साधते हुए अपने अस्तित्व का विस्तार कर लिया है। यहां हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि बौद्धधर्म नें अपना विस्तार सत्ता और शक्ति के बल पर नहीं किया है। बौद्धधर्म की उदार और समन्वयशील दृष्टि का ही यह परिणाम था कि वह जिस देश में गया वहां के आचार-विचार और नीति व्यवहार को, वहां के देवी-देवताओं को इस प्रकार से समन्वित कर लिया कि उन देशों के लिए वह एक बाहरी धर्म न रहकर उनका अपना ही अंग बन गया । इस प्रकार वह विदेश की भूमि में भी विदेशी नहीं रहा। यह उसकी समन्वयवादिता ही थी, जिसके कारण वह विदेशी भूमि में अपने को खड़ा रख सका।

बौद्धधर्म में धर्मनिरपेक्षता का आधार-दृष्टिराग का प्रहाण

धर्मनिरपेक्षता या सर्वधर्मसमभाव की अवधारणा तभी बलवती होती है जब व्यक्ति अपने को आग्रह और मतान्धता के घेरे से ऊपर उठा सके। आग्रह और मतान्धता से ऊपर उठने के लिए बौद्धधर्म में दृष्टिराग (दिट्ठी परिवासना) का स्पष्टरूप से निषेध किया गया है। बौद्धधर्म और साधना पद्धति की अनिवार्य शर्त यह है कि व्यक्ति अपने को दृष्टिराग से ऊपर उठाये, क्योंकि बौद्ध परम्परा में दृष्टिराग को ही मिथ्यादृष्टि और दृष्टिराग के प्रहाण को सम्यक्दृष्टि कहा गया है। यद्यपि कुछ विचारक यह कह सकते हैं कि बौद्धधर्म या दर्शन स्वयं में भी तो एक दृष्टि है। लेकिन यदि हम बौद्धधर्म का गम्भीरता से अध्ययन करें तो हमें यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बुद्ध का सन्देश किसी दृष्टि को अपनाना नहीं था, क्योंकि सभी दृष्टियाँ तृष्णा के ही, राग के ही रूप हैं और सत्य के एकांश का ग्रहण करती हैं। इन दृष्टियों से ऊपर उठना ही बुद्ध की धर्मदेशना का सार है। दृष्टिराग से ऊपर उठना ही दृष्टिनिरपेक्षता है और इसे ही हम धर्मनिरपेक्षता कह सकते हैं। यद्यपि यह एक निषेधात्मक प्रयास ही अधिक है, जैनों के अनेकान्त के समान विधायक प्रयास नहीं है। फिर भी बौद्धधर्म में सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की चर्चा हुई है किन्तु उसकी सम्यक्दृष्टि दृष्टिनिरपेक्षता या दृष्टिशून्यता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। बौद्धधर्म की दृष्टि में सभी दृष्टियां ऐकान्तिक होती हैं। वह यह मानता है कि आग्रह या एकांगीदृष्टि राग के ही रूप हैं और जो इस प्रकार के दृष्टिराग में रत रहता है वह सम्यक्दृष्टि को उपलब्ध नहीं होता। अपितु जहां एक ओर स्वंय दृष्टिराग के कारण बन्धन में पड़ा रहता है वहीं दूसरी ओर इसी दृष्टिराग के परिणामस्वरूप कलह और विवाद का कारण बनता है। इसके विपरीत जो मनुष्य दृष्टिपक्ष या आग्रह से ऊपर उठ जाता है, वह न तो विवाद में पड़ता है न बन्धन में। वह विश्वशान्ति का साधक होता है।

सुत्तनिपात में बुद्ध बहुत ही मार्मिक शब्दों में कहते है कि "जो अपनी दृष्टि का दृढ़ाग्रही हो दूसरो को मूर्ख मानता है, वह दूसरे धर्म को मूर्ख और अशुद्ध बतलाने वाला स्वयं ही कलह का आह्वान करता है। वह किसी धारणा या दृष्टि पर अवस्थित हो, उसके द्वारा संसार में विवाद या कलह उत्पन्न करता है। किन्तु जो सभी धारणाओं को त्याग देता है वह मनुष्य संसार में कलह नहीं करता है।"[१] क्योंकि दृष्टि राग बांधता है, जो बांधता है वह अन्यत्र से तोड़ता भी है और जो तोड़ेगा वह कलह और विनाश को आमन्त्रित करेगा। बुद्ध पुनः स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि साधारण मनुष्यों की जो कुछ दृष्टियाँ हैं, पण्डित उन सबमें नहीं पड़ता है। दृष्टि को न ग्रहण करने वाला आसक्तिरहित पण्डित क्या ग्रहण करेगा? बुद्ध के शब्दों में जो लोग अपने धर्म को परिपूर्ण और दूसरे के धर्म को हीन बताते हैं वे दूसरों की अवज्ञा (निन्दा) से हीन होकर धर्म में श्रेष्ठ नहीं हो सकते।[२] जो किसी दृष्टि विशेष को मानता है, जो किसी वादविशेष में आसक्त है वह मनुष्य शुद्धि को प्राप्त नहीं हो सकता। यही कारण है कि बुद्ध के शब्दों में विवेकी ब्राह्मण दृष्टि की तृष्णा में नहीं पड़ता, वह जो कुछ भी दृष्टि, श्रुति या विचार है, उन सब पर विजयी होता है और दृष्टियों से पूर्णरूप से मुक्त हो संसार में लिप्त नहीं होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धधर्म दृष्टिराग का निषेध करके इस बात का संदेश देता है कि व्यक्ति को साधना और आध्यात्म के क्षेत्र में किसी प्रकार के दुराग्रह से ग्रसित नहीं होना चाहिए । बौद्धधर्म की यह स्पष्ट धारणा है कि बिना दृष्टिराग को छोड़े कोई भी व्यक्ति न तो सम्यग्दृष्टि को प्राप्त हो सकता है और न निर्वाण के पथ का अनुगामी हो सकता है। इसीलिए बौद्धधर्म के सशक्त व्याख्याता विद्वान दार्शनिक नागार्जुन स्पष्ट शब्दों में कहते हैं - तत्त्व का साक्षात्कार दृष्टियों के घेरे से ऊपर उठकर ही किया जा सकता है, क्योंकि समग्र दृष्टियाँ (दर्शन) उसे दूषित ही करती हैं। इस प्रकार बौद्ध दर्शन का दृष्टिराग के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रहाण का सिद्धान्त धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। बुद्ध का सन्देश सदैव ही आग्रह और मतान्धता के घेरे से ऊपर उठने का रहा है क्योंकि वे यह मानते हैं कि सत्य का दर्शन आग्रह और मतान्धता से ऊपर उठकर ही हो सकता है।

बौद्ध दर्शन का विभज्यवाद का सिद्धान्त भी हमें यही सन्देश देता है कि सत्य का समग्ररूप से दर्शन करने के इच्छुक व्यक्ति को सत्य को ऐकान्तिक दृष्टि से नहीं, अपितु अनैकान्तिक दृष्टि से देखना होगा। बौद्ध परम्परा में सत्य को अनेक पहलुओं के साथ देखना ही विद्वता है। थेरगाथा में कहा गया है कि जो सत्य को एक ही पहलू से देखता है वह मूर्ख है, पंडित तो सत्य को अनेक पहलुओं से देखता है।[३] विवाद का जन्म एकांगी दृष्टि से होता है क्योंकि एकांगदर्शी ही आपस में झगड़ते हैं। जब हम सत्य को अनेक पहलुओं से देखते हैं तो निश्चय ही हमारे सामने विभिन्न पहलुओं के आधार पर विभिन्न रूप होते हैं और ऐसी स्थिति में हम किसी एक विचारसरणी में आबद्ध न होकर सत्य का व्यापक रूप में दर्शन करते हैं। इसीलिए सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं कि मैं विवाद (आग्रह) के दो फल बताता हूँ - एक तो वह अपूर्ण और एकांगी होता है और दूसरे वह विग्रह और अशान्ति का कारण होता है।[४] निर्वाण जो कि हमारे जीवन का परम साध्य है वह तो निर्विवादता की भूमि पर स्थित है। इसलिए बुद्ध कहते हैं कि निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझनेवाला साधक विवाद में न पड़े।[५] भगवान बुद्ध की दृष्टि में पक्षाग्रह या वाद-विवाद निर्वाणमार्ग के पथिक के कार्य नहीं हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि यह तो मल्लविद्या है। राजभोजन से पुष्ट पहलवान की तरह अपने प्रतिवादी को ललकारने वाले वादी को उस जैसे प्रतिवादी के पास भेजना चाहिए, क्योंकि मुक्त पुरुषों के पास विवादरूपी युद्ध का कोई कारण ही शेष नहीं है और जो अपने मत या दृष्टि को सत्य बताते हैं उनसे कहना चाहिए कि विवाद उत्पन्न होने पर तुम्हारे साथ बहस करने को यहां कोई नहीं है।[६] इस प्रकार बौद्धदर्शन इस बात को भी अनुचित मानता है कि हम केवल अपने मत की प्रशंसा और दूसरे के मत की निन्दा करते रहें। बुद्ध स्वंय कहते हैं कि शुद्धि यहीं है दूसरे वर्णों में नहीं है, ऐसा अपनी दृष्टि में अतिदृढ़ाग्रही व्यक्ति तैर्थिक (मिथ्यादृष्टि) है। इस प्रकार दृष्टिराग ही मिथ्यादृष्टि है और दृष्टिराग का प्रहाण ही सम्यग्दृष्टि है।

धार्मिक संघर्ष की नियन्त्रक तत्त्व प्रज्ञा

समग्र धार्मिक मतान्धता और संघर्ष इसीलिए होते हैं कि व्यक्ति धार्मिक सन्दर्भों में विचार और तर्क की अपेक्षा श्रद्धा के अधिक महत्त्व देते हैं। तर्क और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिन्तन से रहित श्रद्धा अंधश्रद्धा होती है और ऐसी अंधश्रद्धा से युक्त व्यक्तियों का उपयोग तथाकथित धार्मिक नेता अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये कर लेते हैं। अत: धर्म के क्षेत्र में श्रद्धा का स्थान स्वीकृत करते हुए भी उसे विवेक या चिन्तन से रहित कर देना नहीं है। बौद्धधर्म ने सदैव ही श्रद्धा की अपेक्षा तर्क और प्रज्ञा को अधिक महत्त्व दिया है। आलारकलामसुत्त में बुद्ध स्पष्टरूप में कहते हैं कि हे कलाम! तुम मेरी बात को केवल इसलिए सत्य स्वीकार मत करो कि इनको कहने वाला व्यक्ति तुम्हारी आस्था या श्रद्धा का केन्द्र है।

अध्यात्म और साधना के क्षेत्र में प्रत्येक बात को तर्क की तराजू पर तौल कर और अनुभव की कसौटी पर कस कर ही स्वीकार करना चाहिए। बुद्ध अन्य विचारकों की वैचारिक स्वतंत्रता का कभी हनन नहीं करना चाहते। इसके विपरीत वे हमेशा कहते हैं कि जो कुछ हमने कहा है उसे अनुभव की कसौटी पर कसो और सत्य की तराजू पर तौलो, यदि वह सत्य लगता है तो उसे स्वीकार करो।

बुद्ध के शब्दों में हे कलाम! जब तुम आत्म अनुभव से जानलो कि ये बातें कुशल हैं, निर्दोष हैं, इनके आधार पर चलने से सुख होता है तभी इन्हें स्वीकार करो अन्यथा नहीं। बुद्ध आस्था प्रधान धर्म के स्थान पर तर्क प्रधान धर्म का व्याख्यान करते हैं और इस प्रकार के धार्मिक मतान्धता और वैचारिक दुराग्रहों से व्यक्ति को ऊपर उठाते हैं। उसे केवल शास्ता के प्रति आदर के कारण स्वीकार नहीं करना चाहिए। वस्तुत: धार्मिक जीवन में जब तक विवेक या प्रज्ञा को विश्वास या आस्था का नियन्त्रक नहीं माना जाएगा तब तक हम धार्मिक संघर्षों और धर्म के नाम पर खेली जानी वाली होलियों से मानवजाति को नहीं बचा सकेंगे। धर्म के लिए श्रद्धा आवश्यक है किन्तु उसे विवेक का अनुगामी होना चाहिए। यह आवश्यक है कि शास्त्र की सारी बातों और व्याख्याओं को विवेक की तराजू पर तौला जाये और युगीन सन्दर्भ में उनका मूल्यांकन किया जाये। जब तक यह नहीं होता तब तक धार्मिक जीवन में आई संकीर्णता का मिट पाना सम्भव नहीं। विवेक ही ऐसा तत्त्व है जो हमारी दृष्टि को उदार और व्यापक बना सकता है। श्रद्धा आवश्यक है, किन्तु उसे विवेक का अनुगामी होना चाहिए। आज आवश्यकता बौद्धिक धर्म की है और बुद्ध ने बौद्धिक धर्म का सन्देश देकर हमें धार्मिक मतान्धताओं और धार्मिक आग्रहों से ऊपर उठने का सन्देश दिया है।

बुद्ध का मध्यममार्ग धर्मनिरपेक्षता का आधार

बुद्ध ने अपने दर्शन को मध्यममार्ग की संज्ञा दी है। जिस प्रकार नदी की धारा कूलों में न उलझकर उनके मध्य से बह लेती है, उसी प्रकार बौद्धधर्म भी ऐकान्तिक दृष्टियों से बचकर अपनी यात्रा करता है। मध्यममार्ग का एक आशय यह भी है कि वह किसी भी दृष्टि को स्वीकार नहीं करता। सांसारिक सुखभोग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और देहदण्डन की प्रक्रिया दोनों ही उसके लिए ऐकान्तिक है। एकान्तों के त्याग में ही मध्यम मार्ग की विशिष्टता है। मध्यममार्ग का अर्थ है - परस्पर विरोधी मतवादों में किसी एक ही पक्ष को स्वीकार न करना । बुद्ध का मध्यममार्ग अनैकान्तिक दृष्टि का उदाहरण है। यद्यपि वे केवल निषेधमुख से इतना ही कहते है कि हमें ऐकान्तिक दृष्टियों में नहीं उलझना चाहिए। धार्मिक निरपेक्षता का भी किसी सीमा तक यही आदर्श है कि हमें किसी एक धर्म विशेष या मतवाद विशेष में न उलझकर एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। बुद्ध के शब्दों में एकांशदर्शी ही आपस में झगड़ते और उलझते हैं। मध्यममार्ग का तात्पर्य है - विवादों से ऊपर उठना और इस अर्थ में वह किसी सीमा तक धर्मनिरपेक्षता का हामी है। बौद्धधर्म यह मानता है कि जीवन का मुख्य लक्ष्य तृष्णा की समाप्ति है। आसक्ति और अहं से ऊपर उठना ही सर्वोच्च आदर्श है। दृष्टिराग वैचारिक तृष्णा अथवा वैचारिक अहं का ही एक रूप है और जब तक वह उपस्थित है तब तक मध्यममार्ग की साधना सम्भव नहीं है। अत: मध्यममार्ग का साधक इन दृष्टिरागों से ऊपर उठकर कार्य करता है। जैसा कि बौद्ध दर्शन में कहा गया है कि पण्डित वही है जो उभय अन्तों का विवर्जन कर मध्य में स्थित रहता है। वस्तुत: माध्यस्थ दृष्टि ही धर्मनिरपेक्षता है।

बुद्ध का जीवन और धार्मिक सहिष्णुता

यदि हम बुद्ध के जीवन को देखें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे स्वयं किसी धर्म या साधना-पद्धति विशेष के आग्रही नहीं रहे हैं। उन्होंने अपनी साधना के प्रारम्भ में अनेक धर्मनायकों, विचारकों और साधकों से जीवन्त सम्पर्क स्थापित किया था और उनकी साधना पद्धतियों को अपनाया। उदकरामपुत्त आदि अनेक साधकों के सम्पर्क में वे आये और उनकी साधना पद्धतियों को सीखा। यह समस्त चर्चा पालि त्रिपिटक में आज भी उपलब्ध है। चाहे आत्मतोष न होने पर उन्होंने उनका बाद में त्याग किया हो फिर भी उनके मन में सभी साधकों के प्रति सदा आदरभाव रहा और ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी उनके मन में यह अभिलाषा रही कि अपने द्वारा उद्घाटित सत्य का बोध उन्हें करायें। यह दुर्भाग्य ही था कि पंचवर्गी भिक्षुओं को छोड़कर शेष सभी आचार्य उस काल तक कालकवलित हो चुके थे, फिर भी बुद्ध के द्वारा उनके प्रति प्रदर्शित आदरभाव उनकी उदार और व्यापक दृष्टि का परिचायक है। यद्यपि बौद्धधर्म में अन्य तीर्थिकों के रूप में पूर्णकश्यप, निगंठनाटपुत्त, अजितकेशकंबलि, मंखलिगोशाल आदि की समालोचना हमें उपलब्ध होती है किन्तु ऐसा लगता है कि यह सब परवर्ती साम्प्रदायिक अभिनिवेश का ही परिणाम है। बुद्ध जैसा महामनस्वी इन वैचारिक दुराग्रहों और अभिनिवेशों से युक्त रहा हो ऐसा सोचना सम्भव नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुन: बौद्धधर्म मूलत: एक कर्मकाण्डी धर्म न होकर एक नैतिक आचार पद्धति है। एक नैतिक आचार पद्धति के रूप में वह धार्मिक दुराग्रहों और अभिनिवेशों से मुक्त रह सकता है। उसके अनुसार तृष्णा की समाप्ति ही जीवन का परम श्रेय है और तृष्णा की परिसमाप्ति के समग्र प्रयत्न किसी एक धर्म परम्परा से सम्बद्ध नहीं किये जो सकते। वे सभी उपाय जो तृष्णा के भेदन में उपयोगी हों बौद्धधर्म को स्वीकार हैं। शीलवान, समाधिवान और प्रज्ञावान होना बौद्ध विचारणा का मन्तव्य है किन्तु इसे हम केवल बौद्धों का धर्म नहीं कह सकते। यह धर्म का सार्वजनीन और सार्वकालिक स्वरूप है और बौद्धधर्म इसे अपनाकर व्यापक और उदार दृष्टि का ही परिचायक बनता है। बौद्धधर्म में धर्म (साधना-पद्धति) एक साधन है वह पकड़कर रखने के लिए नहीं है और उसे भी छोड़ना ही है, अत: वह साधना के किसी विशिष्ट मार्ग का आग्रही नहीं है।

उपसंहार

वस्तुत: वैयक्तिक भिन्नताओं के आधार पर साधनागत और आचारगत भिन्नताएं स्वाभाविक हैं। अत: मानवीय एकता और मानवीय संघर्षों की समाप्ति के लिए एक धर्म का नारा न केवल अशक्य है अपितु अस्वाभाविक भी है। जब तक व्यक्तियों में रुचिगत और स्वभावगत भेद है तब तक साधनागत भेद भी अपरिहार्य रूप से बने रहेंगे। इसीलिए तो बुद्ध ने किसी एक यान का उपदेश न देकर विविध यानों (धर्म मार्गों) का उपदेश दिया था। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इन साधनागत भेदों को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में समन्वित कर तथा उनकी उपादेयता को स्वीकार कर एक ऐसी जीवनदृष्टि का निर्माण करें जो सभी की सापेक्षिक मूल्यवत्ता को स्वीकार करते हुए मानव कल्याण में सहायक बन सके।

सन्दर्भ:

१. सुत्तनिपात ५०/१६-१७
२. सुत्तनिपात ५१/३, १०-११, १६-२०
३. थेरगाथा १/१०६
४. उदान ६/४
५. सुत्तनिपात ५१/२
६. सुत्तनिपात ४६/८-९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महायान सम्प्रदाय की समन्वयात्मक जीवनदृष्टि

बौद्धधर्म की महायान शाखा की मध्यम प्रतिपदा का विकास किन परिस्थितियों में और किन प्रभावों के परिणाम-स्वरूप हुआ, यही इस निबन्ध का विवेच्य विषय है।

बौद्धधर्म श्रमण परम्परा का धर्म है, किन्तु इसी सन्दर्भ में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि बुद्ध ने जिस मध्यम मार्ग का प्रतिपादन किया वह निवृत्तिमार्गी श्रमण परम्परा का प्रवृत्तिमार्गी वैदिक परम्परा के साथ समन्वय का प्राथमिक प्रयास था। श्रमणधारा और वैदिकधारा मूलत: दो भिन्न जीवनदृष्टियों पर खड़ी हुई थीं। सामान्यतया श्रमण परम्परा से निवृत्तिमार्गी धर्मों का ही ग्रहण होता है। निवृत्तिमार्गी धर्म मूलत: निर्वाणलक्षी, ज्ञानमार्गी एवं तपस्याप्रधान थे, उनका मूलभूत लक्ष्य तपस्या और ज्ञान के माध्यम से जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाना था। उनकी दृष्टि में सांसारिक अस्तित्व दु:खमय है और उससे छुटकारा पाना ही जीवन का आदर्श हैं। इसके विपरीत वैदिक परम्परा जीवन को और सांसारिक अस्तित्व को आशा भरी दृष्टि से देखती थी। वर्तमान जीवन को सुखी एवं सम्पन्न बनाना ही उसका एक मात्र लक्ष्य था। यह कहना भी अतिश्योक्तिपूर्ण नहीं होगा कि जहॉ वैदिक परम्परा में भौतिक सुख-समृद्धि की उपलब्धि ही जीवन का लक्ष्य बनी, वहॉ श्रमणधारा के प्रारम्भिक रूपों में जीवन के निषेध का स्वर ही अधिक उभरा। वस्तुत: वैदिकधारा और श्रमणधारा मानव जीवन के दो आधार - देह और चेतना अथवा भोग और त्याग की दो भिन्न जीवन दृष्टियों पर खड़ी हुई थीं। प्रारम्भिक वैदिक धर्म का लक्ष्य भोग और प्रारम्भिक श्रमण धर्मों का लक्ष्य त्याग रहा, दूसरे शब्दों में वैदिक धर्म प्रवृत्ति प्रधान और श्रमणधर्म निवृत्ति प्रधान बना। किन्तु मानव अस्तित्व इस प्रकार का है कि वह न केवल भोग पर और न केवल त्याग पर खड़ा रहा सकता है, उसे जीवन के लिए भोग और त्याग, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, वासना की सन्तुष्टि एवं विवेक का विकास सभी आवश्यक है। दैहिक और सामाजिक मूल्यों के साथ ही उसके लिए नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्य भी आवश्यक हैं।

अत: परिणाम यह हुआ कि भोग एवं त्याग के ऐकान्तिक आधारों पर खड़ी हुई धर्म-परम्पराएँ उसे अपने जीवन का सम्यक् समाधान नहीं दे सकीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परिणामस्वरूप भोग और त्याग तथा प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के मध्य एक समन्वय अथवा सम्यक् सन्तुलन बनाने का प्रयत्न हुआ।

इस समन्वय की धारा को हम सर्वप्रथम ईशावास्योपनिषद् में देखते हैं जहाँ "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा" में त्याग और भोग का समन्वय किया गया है। वैदिक धारा में विकसित औपनिषदिक चिन्तन इस समन्वय का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यही समन्वय की धारा आगे चलकर गीता में अधिक पुष्पित एवं पल्लवित होती है। गीता की जीवन दृष्टि ईशावास्योपनिषद् की जीवन दृष्टि का ही एक विकसित रूप है। जिस प्रकार वैदिक धारा में उपनिषद् एवं गीता समन्वय की दृष्टि को लेकर आगे आते हैं उसी प्रकार श्रमण परम्परा में बौद्धधर्म समन्वय का सूत्र लेकर आगे आता है। यद्यपि प्रारम्भिक बौद्धधर्म ने प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के मध्य या व्यक्ति और समाज के मध्य एक समन्वय का प्रयत्न तो किया था, किन्तु उसे विकसित किया उसकी महायान परम्परा ने।

वैदिक परम्परा में यदि गीता प्रवृत्ति और निवृत्ति के मध्य एक उचित समन्वय का प्रयास करती है, तो श्रमण परम्परा में महायान सम्प्रदाय प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के मध्य एक सांग-संतुलन को प्रस्तुत करता है।

इसी दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भगवद्गीता और महायान परम्परा एक दूसरे के अधिक निकट हैं। दोनों में कोई अन्तर है तो वह अन्तर उनके उद्गम स्थल या उनकी मूलधारा का है। अपने उद्गम के दो भिन्न केन्द्रों पर होने के कारण ही उनमें भिन्नता रही हुई है। वे अपनी मूलधारा से टूटना नहीं चाहते अन्यथा दोनों की समन्वयात्मक जीवनदृष्टि लगभग समान है। अनेक तथ्यों के सन्दर्भों में हम उनकी इस समन्वयात्मक जीवनदृष्टि को देख सकते हैं।

गृहस्थ धर्म बनाम संन्यास

प्रारम्भिक वैदिक धर्म में संन्यास का तत्त्व अनुपस्थित था, गृहस्थ जीवन को ही एक मात्र जीवन का कर्मक्षेत्र माना जाता था। प्रारम्भिक वैदिक ऋषि पत्नियों से युक्त थे, जबकि श्रमण परम्परा प्रारम्भ से ही संन्यास को प्राथमिकता देती थी तथा पारिवारिक जीवन को बन्धन मानती थी।

वैदिक धर्म में यद्यपि आगे चलकर निवृत्तिमार्गी श्रमणधर्म के प्रभाव के कारण वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों का प्रवेश हुआ, किन्तु फिर भी उसमें गृही जीवन को ही जीवन का उच्चतम आदर्श तथा सभी आश्रमों का आधार समझा गया और "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" कहकर गृही जीवन के दायित्वों को निर्वाह करने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हेतु बल दिया गया। जबकि प्रारम्भिक श्रमण परम्पराओं में गृहस्थ जीवन की निन्दा की गयी और संन्यास को ही निर्वाण या मुक्ति का एक मात्र उपाय माना गया ।

प्रारम्भिक जैन एवं बौद्धधर्म गृहस्थ जीवन की निन्दा करते हैं। जैन आगम दशवैकालिकसूत्र[१] में कहा गया है कि गृहस्थ जीवन क्लेश युक्त है और संन्यास क्लेश मुक्त; गृहस्थ जीवन पापकारी है और संन्यास निष्पाप है। इसी प्रकार सुत्तनिपात[२] में भी संन्यास जीवन की प्रशंसा तथा गृहस्थ की निन्दा करते हुए कहा गया है कि गृहस्थ जीवन कण्टकों से पूर्ण वासनाओं का घर है जबकि प्रव्रज्या खुले आसमान के समान निर्मल है। जैन एवं बौद्ध-दोनों ही धर्मों के प्राचीन ग्रन्थों में हमें ऐसा कोई उल्लेख देखने को नहीं मिला, जिसमें गृहस्थ जीवन की प्रशंसा की गयी हो।

जैन आगम उपासकदशांग में दश गृहस्थ उपासकों का जीवन वृत्तान्त वर्णित है, किन्तु उनको केवल स्वर्गवासी बताया गया है, मोक्षगामी नहीं। इसी प्रकार पिटक साहित्य में बुद्ध स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि गृहस्थ जीवन को छोड़े बिना निर्वाण सम्भव नहीं। किन्तु इसके विपरीत हम यह देखते हैं कि महायान परम्परा और जैनों की श्वेताम्बर परम्परा तथा भगवद्गीता स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि निर्वाण या मुक्ति के लिए गृही जीवन का त्याग अनिवार्य नहीं है। महायान साहित्य में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ साधक गृहस्थ जीवन से सीधा ही मुक्ति लाभ प्राप्त करता है। इसी प्रकार गीता मुक्ति के लिए संन्यास को आवश्यक नहीं मानती। उसके अनुसार गृहस्थ भी मुक्ति का अधिकारी है।

महायान, श्वेताम्बर जैन परम्परा और भगवद्गीता में किसके प्रभाव से यह अवधारणा विकसित हुई यह बता पाना तो कठिन है लेकिन इतना स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तन में ईसा की प्रथम शताब्दी में जो प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच अथवा संन्यास एवं गृही जीवन के बीच जो समन्वयात्मक प्रवृत्ति विकसित हुई थी, यह उसी का परिणाम था। इन तीनों ही परम्पराओं में यह स्वीकार कर लिया गया है कि निर्वाण के लिए संन्यास अनिवार्य तत्त्व नहीं है। मुक्ति का अनिवार्य तत्त्व है - अनासक्त, निष्काम, वीततृष्ण और वीतराग जीवन दृष्टि का विकास। फिर भी इतना अवश्य मानना होगा कि यह श्रमण परम्परा पर वैदिक धारा का प्रभाव ही था, जिसके कारण उसमें गृहस्थ जीवन को भी कुछ सीमाओं के साथ अपना महत्त्व एवं स्थान प्राप्त हुआ। फिर भी जहाँ महायान और जैन परम्परा में भिक्षु संघ की श्रेष्ठता मान्य रही, वहाँ गीता में "कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते" कहकर गृही जीवन की श्रेष्ठता को मान्य किया गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैयक्तिकता बनाम सामाजिकता

यह स्पष्ट है कि प्रारम्भिक श्रमण परम्पराएँ निवृत्तिमार्गी होने के कारण व्यक्तिनिष्ठ थीं। व्यक्ति की मुक्ति और व्यक्ति का आध्यात्मिक कल्याण ही उनका आदर्श था। प्रारम्भिक बौद्धधर्म एवं जैनधर्म भी हमें व्यक्तिनिष्ठ ही परिलक्षित होते हैं। जबकि प्रारम्भिक वैदिक धर्म में पारिवारिक जीवन की स्वीकृति के साथ ही सामाजिक चेतना का विकास देखा जाता है। वेदों में "संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्" अथवा "समानो मन्त्र: समिति: समानी, समानं मन: सहचित्तमेषाम्" के रूप में सामाजिक चेतना का स्पष्ट उद्घोष है। यद्यपि प्रारम्भिक श्रमण परम्पराएँ घर-परिवार और सामाजिक जीवन से विमुख ही रही हैं, फिर भी प्रारम्भिक बौद्धधर्म और जैनधर्म में श्रमण संघों के अस्तित्व के साथ एक दूसरे प्रकार की सामाजिक चेतना का विकास अवश्य हुआ है। इन्होंने क्रमश: "चरत्थ भिक्खवे चारिकं बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" अथवा "समेच्चलोयं..... खेयन्ने हि पवइए" के रूप में लोकमंगल और लोक-कल्याण की बात कही है। फिर भी इनके लिए लोकमंगल और लोक-कल्याण का अर्थ इतना ही था कि संसार के प्राणियों को जन्म मरण के दु:ख से मुक्त किया जाए। समाज का भौतिक कल्याण और समाज के दीन-दु:खियों को वास्तविक सेवा का व्यवहार्य पक्ष उनमें परिलक्षित नहीं होता। भिक्षु-जीवन में संघीय चेतना का विकास तो हुआ फिर भी वह समाज के सामान्य सदस्यों के भौतिक कल्याण के साथ जुड़ नहीं पाया। जैनधर्म का भिक्षु संघ तो आज तक भी समाज के वास्तविक भौतिक कल्याण तथा रोगी और दु:खियों की सेवा को अपनी जीवन चर्या का आवश्यक अंग नहीं मानता। मात्र सेवा का उपदेश देता है, करता नहीं है। श्रमण परम्पराओं ने सामाजिक जीवन में सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयत्न तो अवश्य किया और उन तथ्यों का निराकरण भी किया जो सामाजिक जीवन को दूषित करते थे। फिर भी वे अपनी निवृत्तिमार्गी दृष्टि के कारण विधायक सामाजिकता का सृजन नहीं कर सके। निवृत्तिमार्गी परम्परा में सामाजिक-चेतना का सर्वाधिक विकास यदि कहीं हुआ है तो वह महायान परम्परा में। महायान परम्परा में सामाजिक चेतना का जो विकास हुआ है, उसे उसके ग्रन्थ बोधिचर्यावतार में बहुत स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। समाज की आंगिकता का सिद्धान्त, जो आज बहुत चर्चा का विषय है, का स्पष्ट उल्लेख भी इस ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

बौद्धधर्म की महायान शाखा ने तो लोकमंगल के आदर्श को ही अपनी नैतिकता का प्राण माना। वहाँ तो साधक लोकमंगल के आदर्श की साधना में परममूल्य निर्वाण की भी उपेक्षा कर देता है, उसे अपने वैयक्तिक निर्वाण में कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रुचि नहीं रहती। महायानी साधक कहता है - दूसरे प्राणियों को दु:ख से छुड़ाने में जो आनन्द मिलता है, वही बहुत काफी है। अपने लिए मोक्ष प्राप्त करना नीरस है, उससे हमें क्या लेना देना[१]।

साधना के साथ सेवा की भावना का कितना सुन्दर समन्वय है। लोकसेवा, लोक-कल्याण-कामना के इस महान् आदर्श को देखकर हमें बरबस ही श्री भरतसिंह जी उपाध्याय के स्वर में स्वर मिलाकर कहना पड़ता है, कितनी उदात्त भावना है। विश्व-चेतना के साथ अपने को आत्मसात करने की कितनी विह्वलता है। परार्थ में आत्मार्थ को मिला देने का कितना अपार्थिव उद्योग है। आचार्य शान्तिदेव भी केवल परापेकार या लोक-कल्याण का सन्देश नहीं देते, वरन् उस लोक-कल्याण के सम्पादन में भी पूर्ण निष्कामभाव पर बल देते हैं। निष्कामभाव से लोक-कल्याण कैसे किया जाये, इसके लिए शान्तिदेव ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं, वे उनके मौलिक चिन्तन का परिणाम है। गीता के अनुसार व्यक्ति ईश्वरीय प्रेरणा को मानकर निष्कामभाव से कर्म करता रहे अथवा स्वयं को और सभी साथी प्राणियों को उसी परब्रह्म का ही अंश मानकर सभी में आत्मभाव जागृत कर बिना आकांक्षा के कर्म करता रहे। लेकिन निरीश्वरवादी और अनात्मवादी बौद्ध दर्शन में तो यह सम्भव नहीं था। यह तो आचार्य की बौद्धिक प्रतिभा ही है, जिसने मनोवैज्ञानिक आधारों पर निष्कामभाव से लोकहित की अवधारणा को सम्भव बनाया। समाज के सावयवता के जिस सिद्धान्त पर ब्रेडले प्रभृति पाश्चात्य विचारक लोकहित और स्वहित में समन्वय साधते हैं और उन विचारों की मौलिकता का दावा करते हैं, वे विचार आचार्य शान्तिदेव के ग्रन्थों में बड़े स्पष्ट रूप से प्रकट हुए हैं और उनके आधार पर उन्होंने नि:स्वार्थ कर्मयोग की अवधारणा को भी सफल बनाया है। वे कहते हैं कि "जिस प्रकार निरात्मक (अपनेपन के भाव रहित) निज शरीर में अभ्यासवश अपनेपन का बोध होता है, वैसे ही दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्यास से अपनेपन का भाव अवश्य ही उत्पन्न होगा, क्योंकि जैसे हाथ आदि अंग अपने शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होते हैं, वैसे ही सभी प्राणी उसी जगत् के, जिसका मैं अवयव हूँ, अवयव होने के कारण प्रिय होंगे, उनमें भी आत्मभाव होगा और यदि सब में प्रियता एवं आत्मभाव उत्पन्न हो गया तो फिर दूसरों के दु:ख दूर किये बिना नहीं रहा जा सकेगा, क्योंकि जिसका जो दु:ख हो वह उससे अपने को बचाने का प्रयत्न तो करता है। यदि दूसरे प्राणियों को दु:ख होता है, तो हमको उससे क्या? ऐसा मानो तो हाथ को पैर का दु:ख नहीं होता, फिर क्यों हाथ से पैर का कंटक निकालकर दु:ख से उसकी रक्षा करते हो[२]? जैसे हाथ पैर का दु:ख दूर किये

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बिना नहीं रह सकता, वैसे ही समाज का कोई भी प्रज्ञायुक्त सदस्य दूसरे प्राणी का दु:ख दूर किये बिना नहीं रह सकता।'' इस प्रकार आचार्य समाज की सावयवता को सिद्ध कर इस लोकमंगल की साधना में लोकमंगल का सन्देश देते हुए आगे यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि इस लोकमंगल की साधना में निष्कामता होनी चाहिए। वे लिखते हैं -''जिस प्रकार अपने आपको भोजन कराकर फल की आशा नहीं होती, उसी प्रकार परार्थ करके भी फल की आशा, गर्व या विस्मय नहीं होता है[४]।'' क्योंकि परार्थ द्वारा हमें अपने ही समाजरूपी शरीर को या उसके अवयवों की सन्तुष्टि करते हैं इसलिए मात्र परोपकार के लिए ही परोपकार करके, न गर्व करना और न विस्मय और न विपाकफल की इच्छा ही[५]।'' महायान में बोधिसत्त्व और गीता में स्थितप्रज्ञ के जो आदर्श हैं वे व्यक्ति के स्थान पर समाज को महत्त्व देते हैं। उन्होंने वैयक्तिक कल्याण या स्वहित के स्थान पर सामाजिक कल्याण को महत्त्व दिया है और इस प्रकार व्यक्ति के ऊपर समाज को प्रतिष्ठित किया है।

महायान के बोधिसत्त्व का लक्ष्य मात्र वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना नहीं। वह तो लोकमंगल के लिए अपने बन्धन और दु:ख की भी कोई परवाह नहीं करता। वह कहता है -

"बहूनामेकदु:खेन यदि दु:खं विगच्छति,
उत्पाद्यमेव तद् दु:खं सदयेन परात्मनो:।[६]
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रमोद्यसागरा:,
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षणारसिकेन किम्।।''[७]

यदि एक के कष्ट उठाने से बहुतों का दु:ख दूर होता हो, तो करुणापूर्वक उनके दु:ख दूर करना ही अच्छा है। प्राणियों को दु:खों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनन्द प्राप्त होता है वही क्या कम है, फिर नीरस मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है। वैयक्तिक मुक्ति की धारणा की आलोचना करते हुए और जन-जन की मुक्ति के लिए अपने संकल्प को व्यक्त करते हुए भागवत, जिसमें गीता के चिन्तन का ही विकास देखा जाता है, के सप्तम् स्कन्ध में प्रह्लाद ने भी स्पष्ट रूप से कहा था कि -

"प्रायेण देव मुनय: स्वविमुक्तिकामा:।
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठा: ।।
नेतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्षु एको ।
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनृपश्ये ।।[८]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे प्रभु ! अपनी मुक्ति की कामना करने वाले देव और मुनि तो अब तक काफी हो चुके हैं, जो जंगल में जाकर मौन साधना किया करते थे। किन्तु उनमें परार्थ-निष्ठा नहीं थी । मैं तो अकेला इन सब दु:खीजनों को छोड़कर मुक्त होना भी नहीं चाहता।

स्वहित बनाम लोकहित का प्रश्न

जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया -- प्रारम्भिक श्रमणधर्म एकान्त साधना और वैयक्ति मुक्ति पर ही बल देते थे। यद्यपि हमें उनकी यह एकान्त साधना और वैयक्तिक मुक्ति की अवधारणा जन कल्याण के विपरीत नहीं थी, फिर भी उसमें लोकहित का एक विधायक पक्ष उपलब्ध नहीं होता। सम्भवत: भगवान बुद्ध प्रथम श्रमण थे, जिन्होंने लोकमंगल की चेतना को विकसित किया। पालि अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध का कथन है कि भिक्षुओं, जैसे पानी का तालाब गन्दा हो, चंचल हो और कीचड़युक्त हो, तो वहाँ किनारे पर खड़े आंख वाले आदमी को भी न सीप दिखाई दे, न शंख, न कंकड, न पत्थर, न चलती हुई या स्थित मछलियां । यह ऐसा क्यों? भिक्षुओं, पानी के गंदला होने के कारण। इसी प्रकार भिक्षुओं, इसकी सम्भावना नहीं है कि वह भिक्षु मैले (राग-द्वैषादि से युक्त) चित्त से आत्महित जान सकेगा, परहित जान सकेगा, उभयहित जान सकेगा और सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्यज्ञान-दर्शन को जान सकेगा। इसकी सम्भावना है कि भिक्षु निर्मल चित्त से आत्महित को जान सकेगा, परिहत को जान सकेगा, उभयहित को जान सकेगा, सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्यज्ञान-दर्शन को जान सकेगा''[९]।

बुद्ध के इस कथन का सार यही है कि जीवन में जब तक राग-द्वेष और मोह की वृत्तियाँ सक्रिय हैं, तब तक आत्महित और लोकहित की यथार्थदृष्टि उत्पन्न नहीं होती। राग और द्वेष का प्रहाण होने पर ही सच्ची लोक मंगल की दृष्टि का उदय होता है और जब यह यथार्थ दृष्टि उत्पन्न हो जाती है तब स्वार्थ, परार्थ और उभयार्थ में कोई विरोध ही नहीं रहता। हीनयान या स्थविरवाद में जो स्वहितवाद अर्थात् आत्मकल्याण के दृष्टिकोण का प्राधान्य है, उसका मूल कारण तत्कालीन परिस्थितियां मानी जा सकती हैं, फिर भी हीनयान का उस लोकमंगल की साधना से मूलत: कोई विरोध नहीं है, जो वैयक्तिक नैतिक विकास में बाधक न हो। जिस अवस्था तक वैयक्तिक नैतिक विकास और लोकमंगल की साधना में अविरोध है, उस अवस्था तक लोकमंगल उसे भी स्वीकार है। वह मात्र लोकमंगल के लिए आन्तरिक और नैतिक विशुद्धि को अधिक महत्त्व देता है। आन्तरिक पवित्रता एवं नैतिक विशुद्धि से शून्य होकर फलाकांक्षा से युक्त लोकसेवा के आदर्श को वह स्वीकार नहीं करता। उसकी समग्र अलोचनाएँ ऐसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ही लोकहित के प्रति हैं। भिक्षु पारापरिय ने, बुद्ध के परवर्ती भिक्षुओं में लोकसेवा का जो थोथा आदर्श जोर पकड़ लिया था, उसकी समालोचना में निम्न विचार प्रस्तुत किये हैं -

लोगों की सेवा काय से करते हैं, धर्म से नहीं ।
दूसरों को धर्म का उपदेश देते हैं,
(अपने) लाभ के लिए, न कि (उनके) अर्थ के लिए।[१०]

स्थविरवादी भिक्षुओं का विरोध लोकसेवा के उस रूप से है जिसका सेवारूपी शरीर तो है, लेकिन जिसकी नैतिक चेतनारूपी आत्मा मर चुकी है। वह लोकसेवा सेवा नहीं, सेवा का प्रदर्शन है, दिखावा है, ढोंग है, छलना है, आत्मप्रवंचना है। डॉ. भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार एकान्तता की साधना की प्रारम्भिक बौद्धधर्म में प्रमुखता अवश्य थी, परन्तु सार्थक तथ्य यह है कि उसे लोकसेवा के या जनकल्याण के विपरीत कभी नहीं माना गया। बल्कि यह तो उसके लिए एक तैयारी थी।[११] दूसरी ओर यदि हम महायानी साहित्य का गहराई से अध्ययन करें तो हमें बोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय, लंकावतारसूत्र जैसे ग्रन्थों में भी कहीं ऐसी सेवाभावना का समर्थन नहीं मिलता जो नैतिक जीवन के व्यक्तिगत मूल्यों के विरोध में खड़ी हो। लोकमंगल का जो आदर्श महायान परम्परा ने प्रस्तुत किया है, वह भी ऐसे किसी लोकहित का समर्थन नहीं करता, जिसके लिए वैयक्तिक नैतिकता को समाप्त कर दिया जाये। इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से लोकहित और आत्महित की अवधारणा में हीनयान और महायान में कोई मौलिक विरोध नहीं रहा जाता । यद्यपि व्यावहारिक रूप में यह तथ्य सही है कि जहाँ एक ओर हीनयान ने एकल साधना और व्यक्तिनिष्ठ आचार-परम्परा का विकास किया और साधना को अधिकांशरूपेण आन्तरिक एवं वैयक्तिक बना दिया, वहाँ दूसरी ओर महायान ने उसी की प्रतिक्रिया में साधना के वैयक्तिक पक्ष की उपेक्षा कर उसे सामाजिक और बहिर्मुखी बना दिया। इस तरह लोकसेवा और लोकानुकम्पा को अधिक महत्त्व दिया। यहां हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि हीनयान और महायान ने जिस सीमा तक अपने में इस एक पक्षीयता को प्रश्रय दिया है, वे उसी सीमा तक बुद्ध की मध्यमार्गीय देशना से पीछे भी हटे हैं।

हिन्दू परम्परा में गीता में स्वहित के ऊपर लोकहित की प्रतिष्ठा हुई है। गीताकार की दृष्टि में जो अपने लिए ही पकाता और खाता है वह पाप ही खाता है।[१२] स्वहित के लिए जीने वाला व्यक्ति गीता की दृष्टि में अधार्मिक और नीच है। गीताकार के अनुसार जो व्यक्ति प्राप्त भोगों को देने वाले को दिए बिना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् उनका ऋण चुकाये बिना खाता है वह चोर है।[१३] सामाजिक दायित्वों का निर्वाह न करना गीता की दृष्टि में भारी अपराध है।

गीता के अनुसार लोकहित करना मनुष्य का कर्तव्य है। प्राणियों के हित सम्पादन में लगा हुआ पुरुष ही परमात्मा को प्राप्त करता है। वह ब्रह्म-निर्वाण का अधिकारी होता है।[१४] जिसे कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं रह गया है, जो जीवन मुक्त हो गया है, जिसे संसार के प्राणियों से कोई मतलब नहीं, उसे भी लोक-हितार्थ कर्म करते रहना चाहिए।[१५] श्रीकृष्ण अर्जुन से ही कहते हैं कि लोकसंग्रह (लोकहित) के लिए तुझे कर्तव्य करना उचित है।[१६] गीता में भगवान के अवतार धारण करने का उद्देश्य साधुजनों की रक्षा, दुष्टों का नाश और धर्म की संस्थापना है।[१७]

ऐसी लोकमंगल की सर्वोच्च भावना का प्रतिबिम्ब हमें बौद्ध आचार्य शान्तिदेव के शिक्षा समुच्चय, नामक ग्रन्थ में मिलता है। हिन्दी में अनूदित उनकी निम्न पंक्तियां मननीय हैं-

इस दु:खमय नरलोक में,
जितने दलित, बन्धग्रसित, पीड़ित विपत्ति विलीन हैं,
जितने बहुधन्धी विवेक विहीन हैं।
जो कठिन भय से और दारुण शोक से अतिदीन हैं,
वे मुक्त हो निजबन्ध से, स्वच्छन्द हो सब द्वन्द्व से,
छूटे दलन के फन्द से,
हो ऐसा जग में, दु:ख से विलखे न कोई,
वेदनार्थ हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,
असन्मार्ग धरे न कोई,
हो सभी सुखशील, पुण्याचार धर्मव्रती,
सबका हो परम कल्याण,
सबका हो परम कल्याण ।।[१८]

भोगवाद बनाम वैराग्यवाद

भोगवाद और वैराग्यवाद भारतीय चिन्तन की आधारभूत धारणायें हैं। वैराग्यवाद निवर्तक धर्मो का मूल है तो भोगवाद प्रवर्तक धर्मों का। वैराग्यवाद शरीर और आत्मा तथा वासना और विवेक के द्वैत पर आधारित धारणा है। वह यह मानता है कि शरीर बन्धन का कारण है और समस्त अधर्मों का मूल है, अत: शरीर और इन्द्रियों की मांगों को ठुकराना ही श्रेयस्कर है। इसके विपरीत भोगवाद यह मानता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि शरीर की मांगों की पूर्ति करना उचित एवं नैतिक है भारतीय परम्परा में जैनधर्म विशुद्ध रूप से वैराग्यवादी परम्परा का समर्थक रहा है और इसी दृष्टि से उसने किसी सीमा तक देह दण्डन और आत्म-पीड़न के तथ्यों को अपनी साधना पद्धति का अंग भी माना । जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है श्रमण परम्परा के भगवान बुद्ध प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने इन दोनों के मध्य एवं संतुलन बनाते हुए मध्यम मार्ग का उपदेश दिया है। बुद्ध कठोर मार्ग (देह दण्डन) और शिथिल मार्ग (भोगवाद) दोनों को ही अस्वीकार करते हैं। बुद्ध के अनुसार यथार्थ नैतिक जीवन का मार्ग मध्यम मार्ग है। उदान में भी बुद्ध अपने इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं -- "ब्रह्मचर्य (संन्यास) के साथ व्रतों का पालन करना ही सार है -- यह एक अन्त है। काम-भागों के सेवन में कोई दोष नहीं यह दूसरा अन्त है। इन दोनों प्रकार के अन्तों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है और मिथ्या धारणा बढ़ती है।" इस प्रकार बुद्ध अपने मध्यममार्गीय दृष्टिकोण के आधार पर वैराग्यवाद और भोगवाद में यथार्थ समन्वय स्थापित करते हैं। भगवान् बुद्ध ने जिस मध्यम मार्ग के विकास का उपदेश दिया था, उसी का विकास महायान परम्परा में हुआ, यद्यपि यह सत्य है कि मध्यम मार्ग का उपदेश देते हुए भी बुद्ध ने भोग की अपेक्षा वैराग्य पर कुछ अधिक बल दिया था, जबकि महायान साधना किसी सीमा तक भोगवाद की ओर अधिक झुक गयी। महायानी बौद्ध आचार्य अनंगवज्र कहते हैं कि चित्त क्षुब्ध होने से कभी भी मुक्ति नहीं होती, अत: इस प्रकार बरतना चाहिये कि जिससे मानसिक क्षोभ उत्पन्न न हो। वासनाओं के दमन की प्रक्रिया चित्त शान्ति की प्रक्रिया नहीं है। यही कारण है कि आगे चलकर महायान में दैहिक इच्छाओं के दमन को अनुचित माना गया, यद्यपि यह दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि भोगमार्ग की ओर महायान का यह झुकाव उसे तन्त्रयान और वाममार्ग की दिशा में प्रवृत्त कर देता है।

दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति और आत्म-पीड़न की आलोचना के सम्बन्ध में महायान का दृष्टिकोण गीता के अत्यन्त निकट है। गीता का अनासक्ति योग भी भोगवाद और वैराग्यवाद की समस्या का यथार्थ समाधान प्रस्तुत करता है। यद्यपि गीता में अनेक स्थानों पर वैराग्य भाव का उपदेश है, किन्तु यह स्पष्ट है कि गीता वैराग्य के नाम पर देह-दण्डन की प्रक्रिया की समर्थक नहीं है।

निष्कर्ष

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट रूप से यह पाते हैं कि महायान सम्प्रदाय ने प्रवर्तक धर्म की अनेक अवधारणाओं को श्रमण परम्परा के अनुरूप रूपान्तरित किया है, वह उसकी अपनी मौलिक विशेषता है। गृहस्थजीवन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से सीधे निर्वाण की सम्भावना को स्वीकार कर उसने संन्यास और गृही जीवन के मध्य एक सार्थक सन्तुलन बनाया है जिसमें संन्यास का महत्त्व भी यथावत् सुरक्षित रह सका है। इसके साथ ही श्रमण संस्था को समाज सेवा और लोकमंगल का भागीदार बनाकर श्रमण परम्परा पर होने वाले स्वार्थवादिता के आक्षेप का परिहार कर दिया है और भिक्षु संघ को समाज जीवन का एक उपयोगी अंग बना दिया है। वैदिक धर्म या गीता की अवतारवाद की अवधारणा को परिमार्जित कर श्रमण परम्परा के अनुरूप बोधिसत्वों की अवधारणा प्रस्तुत की। यहां हम स्पष्ट रूप से यह देखते हैं कि अवतार के समान बोधिसत्व भी लोकमंगल के लिए अपने जीवन को उत्सर्ग कर देता है, प्राणियों का कल्याण ही उसके जीवन का आदर्श है। बोधिसत्व और अवतार की अवधारणा में तात्त्विक अन्तर होते हुए लोकमंगल के सम्पादन में दोनों समान रूप से प्रवृत्त होते हैं। जैनों के तीर्थंकर और हीनयान के बुद्ध के आदर्श ऐसे आदर्श हैं, जो निर्वाण के उपरान्त अपने भक्तों की पीड़ा के निवारण में सक्रिय रूप से साझीदार नहीं बन सकते। अत: भक्त हृदय और मानव को सन्तोष देने के लिए जैनों ने शासनदेव और देवियों (यक्ष-यक्षियों) की अवधारणा प्रस्तुत की, तो महायान सम्प्रदाय ने तारा आदि देवी-देवताओं को अपनी साधना में स्थान प्रदान किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि महायान सम्प्रदाय वैदिक परम्परा में विकसित गीता की अनेक अवधारणाओं से वैचारिक साम्य रखता है। प्रवृत्तिमार्गी धर्म के अनेक तत्त्व महायान परम्परा में इस प्रकार आत्मसात हो गये कि आगे चलकर उसे भारत में हिन्दू धर्म के सामने अपनी अलग पहचान बनाये रखना कठिन हो गया और उसे हिन्दू धर्म ने आत्मसात कर लिया। जबकि उसी श्रमण धारा का जैनधर्म निवृत्त्यात्मक पक्ष पर बराबर बल देता रहा है और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखा।

सन्दर्भ :

१. दशचूलिका १/११-१३
२. सुत्तनिपात - २/७२
३. बोधिचर्यावतार, ८/९९
४. वही, ८/११६
५. वही, ८/१०९
६. बोधिचर्यावतार - ८/१०५
७. वही - ८/१०८
८. श्रीमद्भागवत् ९/४४
९. अंगुत्तरनिकाय
१०. थेरगाथा, ९४१-९४२
११. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. ६०९
१२. गीता, ३/१३
१३. वही, ३/१२
१४. वही, ५/२५, १२/४
१५. वही, ३/१८
१६. वही, ३/२०
१७. वही, ४/८
१८. शिक्षासमुच्चय, अनूदित धर्मदूत, मई १९४१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

English Section

- *Human Solidarity and Jainism*
- *The Impact of Nyāya and Vaiśeṣika School on Jaina Philosophy*

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Human Solidarity and Jainism
(The challenge of our Times)

The challenge of our Times

Ours is the age of reason, science and technology. They have done great service to mankind by removing superstitions and false dogmas, by understanding the real nature of world as well as by providing the amenities of pleasant living respectively. Now-a-days, we, due to the tremendous advancement of science and technology have light-legged means of transportation; physical distances have no bars to meet the people of different nationalities, cultures and religions. Our world is shrinking and consequently we have been more interdependent in every sphere of our life as we were never before. But, unluckily and disdainfully, distances of our hearts are increasing day by day. Human race was divided in the past and is being divided at present also in the name of caste, colour and creed by so called those political, religious and social leaders, who want to serve their vested interest. We are becoming more and more selfish and neglecting the claims of greater goodness of mankind as a whole.

The growth of scientific knowledge and outlook has destroyed our superstitions and false dogmas, but unfortunately and surprisingly it has shaken our faith in religious morality and spiritual values. Today we know more about the atom and atomic forces than the values needed for meaningful and peaceful life. This advancement of our knowledge could not sublimate our animal and selfish nature. Animal nature within us is still dominating our individual as well as social behaviour. Our life, so to say, is full of excitements, emotional disorders and mental tensions. Though, we are wordly pleading for peace, non-violence and co-existence, by heart we still believe in the law of jungle i.e. the dictum 'might is right'. The race of nuclear

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

weapons of the powerful nations is a strong evidence of our belief in aforesaid dictum, which also alarms us that we are proceeding to formidable funeral procession of mankind.

Racialism, castism, regionalism and sectarianism are a great curse to the present day human society. At present, religion as such is largely shown in the background and the political parties are claiming themselves as a true well-wisher of mankind. But, contrary to their promises, they are also sailing in the same boat of racialism, castism, regionalism and sectarianism.

Actually narrow and selfish outlook of man gives birth to fanaticism and intolerance and leads to disintegration of human society. The immediacy, therefore, is to develop a friendly and harmonious outlook towards the members of other nations, cast and creeds. It is the only way to approach by which we can generate peace and harmony inside the human society. Today, what is needed for man is nothing but a complete integration with his own personality and with his social environment.

Can Jainism meet this challenge of our times and save the human race from this sordid situation? Before this question is answered, we must inquire into the root cause of disintegration and communal, racial and religious rivalries.

Attachment and aversion: the causes of disintegration

Among the causes, which are responsible for disintegration and sectionalism, the attachment is the principal one. Attachment in Jainism is considered as a binding principle.[1] It is the cause of union. At the same time it is also responsible for separation or disintegration. Attachment and aversion are the twins; though they seem opposite but they are one and the same, like the two facets of a coin. Attachment emanates aversion and they, due to its disposition, cannot be separated from each other. Attachment unites us with some one, but simultaneously separates us from others.[2] It is the attachment, which emerges from the concept of mineness[3] and we cling to the notions

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

such as my nation, my province, my region, my caste, my race, my religion etc. Nationalism, regionalism, castism, racialism and the sectarianism are the born-childs of the joint-principle of attachment and aversion. From attachment follows "mine" and from aversion follows "alien" and this single concept of "mine and alien" is solely responsible for national communal, racial and religious rivalries. Jainism denies this established notion that the integration and harmony can be achieved on the emotional basis i.e. on the basis of attachment, love and affection (here the term love is used as a passionate love, which is an outer expression of attachment).[4]

Jainism holds that the slightest, even pious, attachment towards the prophet, is also a hindrance to a seeker of truth and aspirant of perfection.[5] It generates uncritical and biased outlook. Thus attachment and aversion (hatred) are the two great enemies of impartial thinking and behaviour.[6] Intense attachment unfailingly generates blind faith in religious leaders, dogmas, doctrines and rituals and consequently religious intolerance and fanaticism come into existence. Attachment is also responsible for our narrow and selfish outlook. It results in nationalism, castism, racialism and sectarianism and divides human race into the smaller groups, while aversion turns itself into the hatred and rivalries among these smaller groups and thus both of them disturb integrity and solidarity of mankind. The Jainas therefore, laid stress on the elimination of attachment and aversion[7]; the root causes of selfishness and intolerance respectively. They firmly believe that the stable integration and solidarity of mankind can only be established on the rational grounds of equality and benevolent and co-operative nature of all sentient beings.

The grounds for Human solidarity

(a) Equality of Human beings

Jainas strongly hold the equality of all human beings and profound the rational maxim "that which thou desire for thyself

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

desire for others that which thou desire not for thyself, thou shall not desire for others also. This is the essence of teachings of the Jina."[8]

They further say just as suffering is not agreeable to you, it is so with other beings; endowed with regard and equanimity, be compassionate and co-operative to all beings as you are towards yourself.[9]

This Jaina concept of potential equality of all sentient beings is the core of Jaina-theory of non-violence and can serve as the basis for human solidarity and integration. Non-violence is nothing but to give an equal treatment to all sentient beings, of course, prominently to human beings. Non-violence is a regard for life, which is an essential condition for co-existence.

(b) **Human race is one**

Jainism does not discriminate between man and man on the basis of their caste, creed and colour. According to it, all barriers of caste, creed and colour are superficial. They vehemently declare the human race is one. In later period indeed the concepts of caste and *varṇa* are also crept into Jainism, but it was obviously the influence of Hinduism. Jainism, what we may say, neither proposes nor supports the concept of superiority or inferiority on the basis of caste and colour. In *Uttarādhyayana* it is clearly mentioned that a man is neither high nor low, because he is born some particular caste or lineage or due to his social, political or economic status, but it is the moral conduct that makes a man high or low. In its 12th and 25th chapters there are contemptuous criticism of *varṇa* system hierarchy and assumed superiority of Brahmins. It is clearly asserted that a real Brahmin is not one who is born in a particular lineage, but one who is completely unattached, talented and of good-conduct. It is not the lineage but the character, which is the determining factor of one's superiority.[10]

(c) **The natural law of co-operation:**

The second but not the least motto of Jainism is the law of co-operation. For Jaina thinkers co-operation is the essential nature

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of living beings.[11] They strongly condemn the doctrine of 'struggle for the existence' i.e. 'living by killing'. They aver that the directive principle of our living is not the struggle but the co-operation. The dictum 'Live on others or living by killing' is not agreeable to them, simply because it goes against the judgment of our faculty of reasoning and commonsense. For them, the directive principle of living is not merely "live and let live", but "Live with others" or "Live for others". They argue if nobody has any right to take my life then on the same rational ground I have also no right to take other's life. Just I need other's co-operation for my existence, so I should also co-operate in other's living. For Jainas, not the struggle, but the co-operation is the law of life and only through the firm belief in and practice of this natural law we can integrate the nation and as well as mankind. It is the law of mutual co-operation on which the institutions of family and society stands. This concept of co-operation is a positive aspect of Jaina theory of non-violence. At present it is only the firm faith in the observance of non-violence, which can save the human race from disintegration. It is mutual credibility and belief in the equality of human being, which can restore the peace, and harmony in human society.

Religious tolerance in Jainism

Religious intolerance and sectarianism are also responsible for disintegration of mankind as well as nation. If we are inclined to human solidarity and national integration then, we should develop the concept of religious tolerance and religious co-existence and should give-up the idea that my religion is the only way to approach the ultimate.

Jaina religion since its inception till modern age has been tolerant and respectful towards other faiths and religions. The Jaina Ācāryas while opposing the different ideologies and religious standpoints, paid full regard to them and accepted that the opponent convictions may also be valid from a certain standpoint. Their well-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

known theory of *Anekāntavāda* or Non-absolutism is the base of religious tolerance. If viewed from two different angles, according to this theory, both contrary views may be relatively true.

Jaina thinkers accept that reality is a complex one. [12] The reality, which has many facets, various attributes and modes, in its completeness it cannot be grasped by us. It can only be viewed and understood from different angles. While every angle or viewpoint can claim that it gives a true picture of reality, each one only gives a partial and relative picture. On the basis of this partial and relative knowledge of reality, one has no right to discard the views of one's opponents as totally false. So the Truth-value of opponents, according to Jaina thinkers, must be accepted and respected. This pragmatic view of the Jains made them open-minded and consequently tolerant.

Upādhyāya Yaśovijaya, a famous Jaina Ācārya of 17th cent. AD mentions. "A true non-absolutist does not disdain any faith and he treats all the faiths equally, like a father to his sons, for a non-absolutist does not have any prejudice and biased outlook in his mind." [13]

For Jainas, the door of liberation is open to all. One who can attain equanimity of mind, according to Haribhadra, will for certain get the emancipation whether he may be a Śvetāmbara or a Digambara or a Buddhist or any one else.[14] About the means of liberation also they had broad-minded outlook. They were not of this opinion that their mode of worship is the only way of emancipation. For them, it is not the external mode of worship, but the right attitude and mental purity, which makes religious practices fruitful.

From the earliest Jaina literature to the age of 20th cent. A.D., we come across many references of their religious tolerance. *Sūtrakṛtāṅga* mentions 'those who praise their own faith and possess malice against their opponents will remain confined to the cycle of birth and death'.[15] In *Isibhāsiyāiṁ*, a Jaina text of third century BC

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

the Brahmanical and Śramanical saints are remembered as *Arhat Ṛṣi* and their teachings are regarded as an *Āgama.* [16] Haribhadra – Jaina saint of eighth century AD was a staunch preacher of religious tolerance. In his works *Śāstravārtāsamuccaya* and *Yogadṛṣṭis-amuccaya*, he has elaborately illustrated this liberal outlook.

In the *Yogadṛṣṭisamuccaya*, he remarks that the ultimate truth transcends all states of worldly existence, called nirvāṇa and is essentially and necessarily "single" even if it be designated by different names, like Sadāśiva, Parabrahman, Siddhātmā, Tathāgata etc. [17] Not only in the general sense but etymologically also they convey the same meaning. In *Lokatattvanirṇaya* he says 'I venerate all those who are free from all vices and adorned with all virtues, be they Brahmā, Viṣṇu, Śiva or Jina.'[18] Haribhadra's crusade against sectarianism is unique and admirable in the history of world-religions. This view is further supported by various Jaina thinkers of medieval period such as Akalaṅka, Yogindu, Mānatuṅga, Hemacandra and many others. While worshipping Lord Śiva, the Jaina pontiff Hemacandra says: "I worship those who have destroyed attachment and aversion which are the seed or birth and death, be they Brahmā, Viṣṇu, Śiva or Jina.[19] "It is important that though Hemacandra was a Jain-saint, he composed a hymn in praise of Śiva. This liberalism is also maintained by later Hindi or Gujarati Jaina writers like Ānandaghana and many others.

Ānandaghana, a mystic Jaina saint of the 17th century A.D. remarks that just as ocean includes all the rivers so does Jainism all other faiths. Further, he beautifully expounds that all the six heretic schools are the organs of *Jina* and one who worships *Jina* also worship them. [20] A Hindi couplet (20th cent.) reads:

buddha vīra jina hari hara brahmā ya usako svādhīna kaho/
bhakti bhāva se prerita ho, yeha citta usi me līna raho//

Along with these literary evidences there are some epigraphical evidences of religious tolerance of the Jainas. Some Jaina Ācāryas such as Rāmakīrti and Jayamaṅgalasūri wrote the hymns in the praise

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of goddess Cāmuṇḍā. Jaina kings such as Kumārapāla, Viṣṇuvardhana and others constructed the temples of Śiva and Viṣṇu along with the temples of Jina. [21]

Historically, we also find that various deities of other sects are adopted in Jainism and worshipped by the Jainas. Ācārya Somadeva in his work *Yaśastilakcampū* remarks that where there is no distortion from right faith and accepted vows, one should follow the traditions prevailing in the country. [22] Thus Jaina thinkers advocated religious tolerance, which is a necessary condition for national integration and human solidarity.

Meaning of Unity in Jainism

Jaina philosophers firmly believe the concept of integration of unity, but for them unity does not mean an omnivores unity in which all its constituents lose their entity and identity. They believe in that type of unity in which all its integral parts conjoin each other and form an organic whole without loosing their independent existence and peculiarities. In other words integration or unity, as Jainas believe, means a harmonious co-existence of different nations, faiths and cultures in an organic whole.

Jaina thinkers assert that unity implies diversity. Unity and diversity are the two phases of the same reality. They find reality as unity in diversity. In *Bhagavatī-sūtra* Lord Mahāvīra mentions that 'I am one as well as many'. [23] There is no class without individuals and every individual belongs to a certain class. We cannot imagine a cow without cow-hood and without cowhood a cow. The terms unity and diversity are relative, such as husband and wife. The term husband implies wife and the term wife implies husband, similarly unity implies diversity and diversity implies unity.

So, whenever we talk about human solidarity it does mean the unity in diversity, for diversity is also an essential characteristic of mankind. Radial, cultural, linguistic, regional and religious differences are inevitable and essential. In *Niyamasāra* Ācārya

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Kundakunda, a well known Jaina philosopher of Tamilnadu, says that there are different persons with their different activities or *karmas* and different levels or capacities, so one should not indulge in rivalries neither with other sects nor one's own sect. [24]

Haribhadra also remarks that the diversity in the teachings of the sages is due to the diversity in the levels of their disciples or the diversity in standpoints adopted by the sages or the diversity in the period of time when they were preached or it is only an apparent diversity. Just as a physician prescribes medicine according to the nature of a patient, his illness and the climate, so is the case with diversity of religious teachings. [25] So far as diversity in time, place, levels and understanding of disciples is inevitable, variety in religious ideologies and practices is essential. The only way to remove the religious as well as other conflicts is to develop a tolerant outlook and to establish harmony among different faiths, ideologies and cultures.

Nationalism v/s Human Solidarity

Thus, in Jainism, unity means a co-operative co-existence of the constituents in an organic whole. So far as the problem of national integration is concerned Jainas support it theoretically as well as practically. In *Sthānāṅga* we have a mention of Kuladharma, Grāma-dharma and Rāṣṭra-dharma. i.e. the duties pertaining to the family, the township and the nation. [26] They also favour that if necessary the interests of the individual, the family and the township should be sacrificed for the common and greater good of the nation. For them, the concept of human solidarity has more importance than the concept of nationality. They are determined that for the solidarity and the greater good of mankind as a whole, we must get rid of the narrower concepts such as regionalism and even nationalism. If viewed from the whole mankind, nationalism is also a narrower outlook and a hindrance to human solidarity, so the mankind should get rid of the narrower concepts and should think of the greater good of mankind as a whole.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

References:

1. (a) *Sthānāṅga* 2/4
   (b) *Samaṇasuttaṁ*, 596
2. *Uttarādhyayana- sūtra*, 32/38
3. *Ibid* - 32/89
4. *Ibid* - 32/92-92
5. *Kalpasūtra* Ṭīkā by Muni Vinaya-Vijay, Page 120
6. *Studies in Jaina Philosophy* - Tatia , Page 22
7. *Uttarādhyayana* - 32/19
8. *Bṛahadkalpa Bhāṣya*, 4584
9. *Samaṇasuttaṁ*, 150
10. (a) *Uttarādhyayana- sūtra* 12/37
    (b) *Ācārāṅga* 1/2/3/1
    (c) *Sūtrakṛtāṅga* 1/13/16
11. *Tattvārthasūtra*, 5/21
12. *Anyayogavyavacchedikā*, Hemcandra- 22
13. *Adhyatmopaniṣad*, 70
14. *Sambodhasattari*, 2
15. *Sūtrakṛtāṅga* 1/1/2/23
16. *Isibhāsiyāiṁ* 1/1
17. *Yogadṛṣṭisamuccaya*-Haribhadra- 129
18. *Lokatattvanirṇaya*, Haribhadra- 40
19. *Mahādeva-stotra* - 44
20. *Namijinastavana* -1, Ānandaghana
21. *Jainaśilālekhasaṁgraha* Vol.-III Introduction - by G. C. Chaudhary.
22. *Yaśastilaka- campū*, Somadeva Page 373 (Bombay Edition)
23. *Bhagavatīsūtra* 1/8/10
24. *Niyamasāra*, 155
25. *Yogadṛṣṭisamuccaya*, 133 x 137
26. *Sthānāṅgasūtra* 10/760

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The Impact of Nyāya and Vaiśeṣika School on Jaina Philosophy

The history of Jaina philosophy extends over a long period of 2600 years. The concepts of Jaina metaphysics and epistemology can be traced as early as the history of Jainism begins. Not only Mahāvīra (6th cent. BC) but the tradition of his predecessor Lord Pārśvanātha (8th cent. BC) also bears clear marks of the fundamental concepts of Jaina philosophy. Tradition reckons twenty-three prophets as having preceded to Mahāvīra, which takes us back to fabulous antiquity of the tradition. Pārśvanātha, born at Varanasi was the 23rd Tīrthaṅkara. Thus, historically Jaina philosophy existed long before the emergence of Nyāya-Vaiśeṣika schools of Indian Philosophy. Due to the earlier emergence of Jaina philosophy, we do not find any impact of Nyāya-Vaiśeṣika school on the fundamental concepts of Jaina metaphysics and epistemology, such as *Pañcāstikāyavāda*, nine categories (*Nava-tattva*), six kinds of living beings (*Ṣaḍjīvanikāya*) including five kinds of knowledge (*Pañcajñāna*). On these earlier concepts we can trace some impacts of earlier Upaniṣads, early Buddhism as well as other contemporary Śramanic traditions. Generally, Jainism and Buddhism are regarded as the schools emerged against the sanctity of Vedic lore and oppressive priest craft. But this is not true as both of the traditions have their independent origin. Though, independent of Buddhism, Jainism resembles it in several respects, e.g. in its repudiation of the authority of Veda, its pessimistic outlook on life and its refusal to believe in Supreme God. Being sister religions of the same Śramanic tradition, both have various philosophical, religious and ethical concepts as common. Both of the philosophical schools, being based more or less on the same theory of *Vibhajyavāda*,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

discord the one-sided views of their contemporary thinkers. Buddha's approach being negative one, culminated in *Śūnyavāda* but his penetrating vision led him to proclaim that the truth lies in the middle path. He opined that any kind of extreme view was likely to give rise to one-sided opinion, which by creating obsession may obscure our vision. Mahāvīra's approach being positive culminated in *Anekāntavāda* i.e. theory of Non-absolutism. This non-absolutistic approach of both the schools are totally absent in Nyāya-Vaiśeṣika schools. By the emergence of Nyāya-Vaiśeṣika schools, the earlier phase of Jaina and Buddhist philosophy were well established. But this does not mean that Nyāya-Vaiśeṣika philosophy has no impact on Jaina philosophy. It has certain influence on later established concepts of Jaina philosophy, which we shall discuss in this article.

The history of the development of Jaina philosophy can be shown in following four phases:

I. The Āgamic philosophy - 5th cent. BC to 3rd cent. AD

II. The period of Logical presentation of Jaina philosophy and its theory of *Anekāntavāda* -4th cent. A.D. to 7th cent. AD

III. The period of critical evaluation of other schools of Indian philosophy and - 8th cent. AD to 15th cent. AD

IV. The period of applying of Navya-Nyāya technique in Jaina philosophy - 17th to 18th cent. AD.

Out of these five phases of the development of Jaina philosophy, the first phase may be called purely Āgamic. One cannot trace any impact of Nyāya-Vaiśeṣika schools on it. It was the second phase where some impacts of Nyāya-Vaiśeṣika school can be traced on Jaina metaphysical and epistemological concepts. In the third phase, Jaina thinkers, while making a critical estimate of Nyāya and Vaiśeṣika schools, adopted the Nyāya-Vaiśeṣika concepts and also of their opponents. Jainas by synthesizing these opposite views

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

with their theory of *Anekāntavāda* evolved some new theories such as *Sadasadkāryavāda, Parataḥ-svataḥ-prāmāṇyavāda* etc in support of their philosophy. In this phase, Jainas have vehemently criticized the philosophical doctrines of Nyāya-Vaiśeṣika and pointed out their logical as well as practical weaknesses of their doctrines based on one-sidedness views. In the fourth and last phase, Jaina philosophers adopted the *Navya-nyāya* (Neo-logic) technique of Gaṅgeśa Upādhyāya (12-13th cent. AD) for sound and logical presentation of their philosophical doctrines. It was a new turn to the development of Indian logic. The Jaina scholars also could not escape from the powerful trend of this thought. This technique made a profound influence on Jaina Ācāryas.

It is established fact that no philosophy emerges in vacuum. It has some impacts of its earlier as well as contemporary philosophies either in a positive or negative form. In other words, either they accept the philosophical concepts of their earlier or contemporary philosophical schools with certain logical modifications, or reject them by showing their logical inconsistencies. Jaina thinkers had used both the techniques, but instead of total rejection, they synthesized them with their opponent's view. Thus, the Jaina doctrine is nothing but a synthesization of two conflicting opposite views. Jaina philosophers used this technique regarding Nyāya-Vaiśeṣika school also.

Some metaphysical concepts of Jaina philosophy which were established in the first phase of its development such as (1) the doctrine of *Pañcāstikāya*, (2) the nine categories (*Nava-tattva*), (3) the six types of living beings (*Ṣaḍjīvanikāya*), (4) the eight fold *karmas* (*Aṣṭakarma-prakṛti*) etc. have no impact of Nyāya-Vaiśeṣika school. Similarly, on some ethico-religious concepts such as *Cāturyāma dharma, Pañca-mahāvratas*, four-fold or three-fold path of liberation (*Triratna*) and the concept of five types of knowledge (*Pañcajñāna*) etc. we do not find any impact of Nyāya-Vaiśeṣika school. Though, in the 6th century BC of this first phase, Jaina

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

philosophers logically presented these doctrines without assimilating the views of other contemporary schools on their own footings.

The impact of other philosophical traditions on Jaina philosophy starts from the second phase i.e. after 2nd century BC. In this period Jaina thinkers propounded the doctrine of six substances (*Ṣaḍ-dravya*) and explained the relationship between substance (*Dravya*), attribute (*Guṇa*) and modes (*Paryāya*). Though, the words such as *sat*, *dravya* and *astikāya* were already used in Indian philosophy for Reality, but originally they belonged to different traditions. The word '*sat*' belongs to Vedic tradition, while the word *dravya* was used by Nyāya-Vaiśeṣika. Similarly, the word *astikāya* originally belongs to the Jaina tradition but later on Jaina thinkers used all these three words for Reality. Etymologically, these three words connote three different meanings. The word '*sat*' means that which exists without changing, while the word '*dravya*' means that which exists with changes. The word *astikāya* means that which exists with extension in space. The Jaina doctrine of *Ṣaḍ-dravya* was a new development but really there was nothing new in this doctrine of six substances except the addition of *kāla* (time) as a substance along with the five *astikāyas*. It was a later development of the doctrine of *pañcāstikāya*. The acceptance of the word "*dravya*" in Jaina tradition seems to be an influence of Nyāya-Vaiśeṣika philosophy. According to Jaina philosophy the number of the substances is six while Vaiśeṣika school accepts nine substances. In the list of both these schools *akāśa*, *kāla* and *ātman* (*jīva*) are common. *Ākāśa* and *ātman* are also included in the list of *pañcāstikāya*. Here, only inclusion of *kāla* (Time) may be considered as an impact of Vaiśeṣika school. It is worth to note that in the Śvetāmbara tradition even up to the seventh century AD, *kāla* was not accepted as an independent substance by some of the scholars. According to them *kāla* is only a mode (पर्याय) of *jīva* and *pudgala* (matter). The debate whether time can be regarded as an independent substance or not, begins from 3rd century AD, before the formulation

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

of *Tattvārthasūtra* and differences in this regard continued up to the period of *Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya* i.e. 7th century AD. Regarding definitions of *dravya*, *guṇa* and *kāla*, we find some similarities in *Uttarādhyayana-sūtra*, *Vaiśeṣika-sūtra* as well as *Tattvārthasūtra*. Scholars are of the opinion that the *Tattvārthasūtra* and its auto-commentary have some influence of *Vaiśeṣika-sūtra* and *Yoga-sūtra*. When we talk of the impact of Nyāya-Vaiśeṣika school on the metaphysical doctrine of Jainism, we should not forget that Jainas have of course borrowed some of the terminologies/ideas of Nyāya-Vaiśeṣika school but they incorporated them in their own way with required modifications and not as it is. For example, regarding substance, which possessed of *guṇa* (attributes) and *paryāya* (modes) Jainas are very clear in their concept that *guṇa* and *paryāya* are not two different entities as the Nyāya holds but they are two aspects of the same Reality and they are interchangeable in different relations. Similarly, Jaina also not admit the destruction of all *guṇas* with the destruction of a *dravya* and the emergence of all the *guṇas* a new with every new *dravya*, as the Nyāya holds.

So far as the impact of Nyāya school on Jaina epistemology is concerned, Jaina philosophers have adopted some ideas of Nyāya school in Toto and some ideas in their modified form. As I have already discussed, the doctrine of five-fold knowledge (*pañcajñāna*) has its origin in the philosophy of Lord Pārśva (8th cent. BC) that is why we do not find any impact of Nyāya School on this doctrine. Even in *Tattvārthasūtra* (3rd cent. AD), while establishing these five types of knowledge as *pramāṇa*, we do not trace any conceptual impact of these schools on it. In the beginning of Christian era, when the discussions regarding the nature and types of *pramāṇas* took place in different schools of Indian philosophy; the Jaina thinker Umāsvāti defined those five types of knowledge or knowledge itself as *pramāṇa*. *Tattvārtha-sūtra* accepts only two types of *pramāṇa* i.e. *pratyakṣa* (direct) and *parokṣa* (indirect) and satisfy himself by dividing these five types of knowledge into two. At the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

prima-facie it shows an impact of Vaiśeṣika School on Jaina epistemology but in my humble opinion it would be a wrong supposition. Here the similarity is only regarding two broad categories or the numbers of *Pramāṇas* and not in the concepts itself. For Jainas the knowledge itself is *pramāṇa* but for Nyāya-Vaiśeṣika *pramāṇa* is the means of knowledge (प्रमीयते अनेन इति प्रमाणं). Secondly, for Umāsvāti, the meaning of *pratyakṣa* (direct knowledge) and *parokṣa* (indirect knowledge) are totally different from that of Nyāya's definition of *pratyakṣa* and *parokṣa*. Umāsvāti maintains that the knowledge acquired through sense organs and mind is not a direct knowledge, but it is an indirect knowledge (*parokṣa*). On going through *Tattvārthasūtra*, one can observe that though Umāsvāti also adopted some concept of epistemology prevalent that time, but he explained it according to his own Āgamic tradition.

The first impact of Nyāya School on Jaina epistemology can be traced in the canonical works of later period (3rd - 4th century A.D.) or in the late incorporated works of early canonical works.

The Jaina theory of *pramāṇas* takes it birth from the scattered ideas found in the canonical works. In the Āgamic period or the first phase, the five-fold division of knowledge, which later on considered as *pramāṇa*, remained pure and unalloyed. In the second stage when the idea of two-fold classification came into existence, particularly in *Niryukti* literature and *Tattvārthasūtra*, it was certainly due to external influence, yet the spirit of Āgamas remained dominating. For the first time, in *Anuyogadvāra-sūtra* five-fold division of Āgamic tradition goes into background and the four-told division of the Nyāya School came into prominence. Here, the Jaina thinkers adopted the view of Nyāya School in Toto. The four-fold *pramāṇas -Pratyakṣa, Anumāna, Āgama* and *Upamāna*, are mentioned in various canonical works such as *Samavāyāṅga, Bhagavatī, Anuyogadvāra*, etc. in the name of *hetu* (हेतु), *vyavasāya* or *pramāṇa*. In the canonical works, we find mention of four-fold as well as three-fold divisions of *pramāṇas* as of Nyāya and Sāṁkhya School respectively. Siddhasena Divākara also followed this three-fold

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

division of *pramāṇa* in his *Nyāyāvatāra* (4th - 5th cent. AD). Another impact of Nyāya School on Jaina epistemology is seen in *Nandīsūtra* (5th Century) where the sense-cognition is included into *pratyakṣa* (*Nandīsūtra*-4) following the Nyāya tradition. Later on Jaina scholars such as Jinabhadragaṇi Kṣamāśramaṇa and Akalaṅka designated it as `perception according to the common usage` (*sāmvyavahārika pratyakṣa*). Regarding the five organs (*pañca-avayavas*) of inference (*anumāna*) Jaina thinkers are also agreed with Nyāya school. But in *Niryukti* literature we come a cross with ten organs of inference along with above-mentioned five organs. Though the concept of five organs is common to both the traditions, but the idea of ten organs is a peculiarity of Jaina tradition only. Similarly, due to the influence of Nyāya School, Jaina thinkers also adopted the three-fold division of inference (अनुमान) such as *pūrvavat* (पूर्ववत्), *śeṣavat* (शेषवत्) and *sāmanyato-dṛṣṭa* (सामान्यतोदृष्ट). In the Jaina canonical works of later period, we find mention of this classification, which shows the impacts of Nyāya School on Jaina epistemology.

The last, but no least, major influence of Nyāya School on Jaina epistemology is the adoption of Navya-nyāya technique of Gaṅgeśa by the two most versatile Jaina scholars- Upādhyāya Yaśovijaya (17th century AD) and Vimaladāsa. Yaśovijaya's *Anekāntavyavasthā* written in the neo-nyāya style helped the re-establishment of *Anekāntavāda*. Similarly, the *Jaina-tarkabhāṣā and Jñānabindu* were two important contributions to the Jaina *Pramāṇa-śāstra*. Vimaldās's *Saptabhaṅgītaraṅgiṇī* a treatment of *Saptabhaṅgī* (doctrine of seven fold predications) is the most celebrated work of Jaina logic written in the same style.

Some traditional Jaina scholars may be reluctant in accepting the Nyāya impact on Jaina philosophy but in my humble opinion, it would be against the intellectual honesty. First of all we should decide the chronology of the development of different philosophical schools as well as philosophical thoughts honestly and then the mutual influence be traced on the basis of chronology.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Parshwanath Vidyapeeth
Our Publications in English

1.	Scientific Contents in Prakrit Canons Dr. N. L. Jain	Rs. 400.00
2.	Pearls of Jaina Wisdom Dulichand Jain	Rs. 120.00
3.	Pristine Jainism S. M. Jain	Rs. 150.00
4.	Jaina Karmology Dr. N. L. Jain	Rs. 100.00
5.	Aparigraha: the Humane Solution Dr. Miss. Kamla Jain	Rs. 120.00
6.	Jainism in Global Perspective Ed. Dr. S. M. Jain & Dr. S. P. Pandey	Rs. 400.00
7.	Studies in Jaina Art (IInd Edition) Dr. U. P. Shah	Rs. 300.00
8.	Jainisn in India Ganesh Lalwani	Rs. 100.00
9.	Dr. Charlotte Krause: Her Life & Works Dr. Sagarmal Jain & Dr. S. P. Pandey	Rs. 500.00
10.	Jaina Philosophy of Language Dr. Sagarmal Jain	Rs. 200.00
11.	Jaina Temples of Western India Dr. Harihar Singh	Rs. 300.00
12.	Kasaya-Pahuda Dr. N.L. Jain	Rs. 300.00
13.	Jaina Psychology Dr. Mohanlal Mehta	Rs. 120.00
14.	Literary Evolution of Paumachariyam Dr. K. R. Chandra	Rs. 20.00
15.	Mult-Dimensional Application of Anekantavada Ed. Dr. S. M. Jain & Dr. S. P. Pandey	Rs. 60.00
16.	Studies in Jaina Philosophy Dr. Nathmal Tatia	Rs. 200.00
17.	Theory of Reality in Jaina Philosophy Dr. Dr. J. C. Sikdhar	Rs. 300.00
18.	Jaina Epistemology Dr. I. C. Shastri	Rs. 350.00
19.	The Concept of Paácaïila in Indian Thought Dr. Kamla Jain	Rs. 150.00
20.	Doctrine of Karman In Jaina Philosophy Dr. H. V. Glasenapp	Rs. 150.00
21.	The Path of Arhat T. U. Mehta	Rs. 200.00
22.	Jaina Perspective of Philosophy & Religion Dr. Ramjee Singh	Rs. 200.00
23.	An Introduction to Jaina Sadhana Dr. Sagarmal Jain	Rs. 40.00

Parshwanath Vidyapeeth
I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi - 5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org